जीवन यात्रा

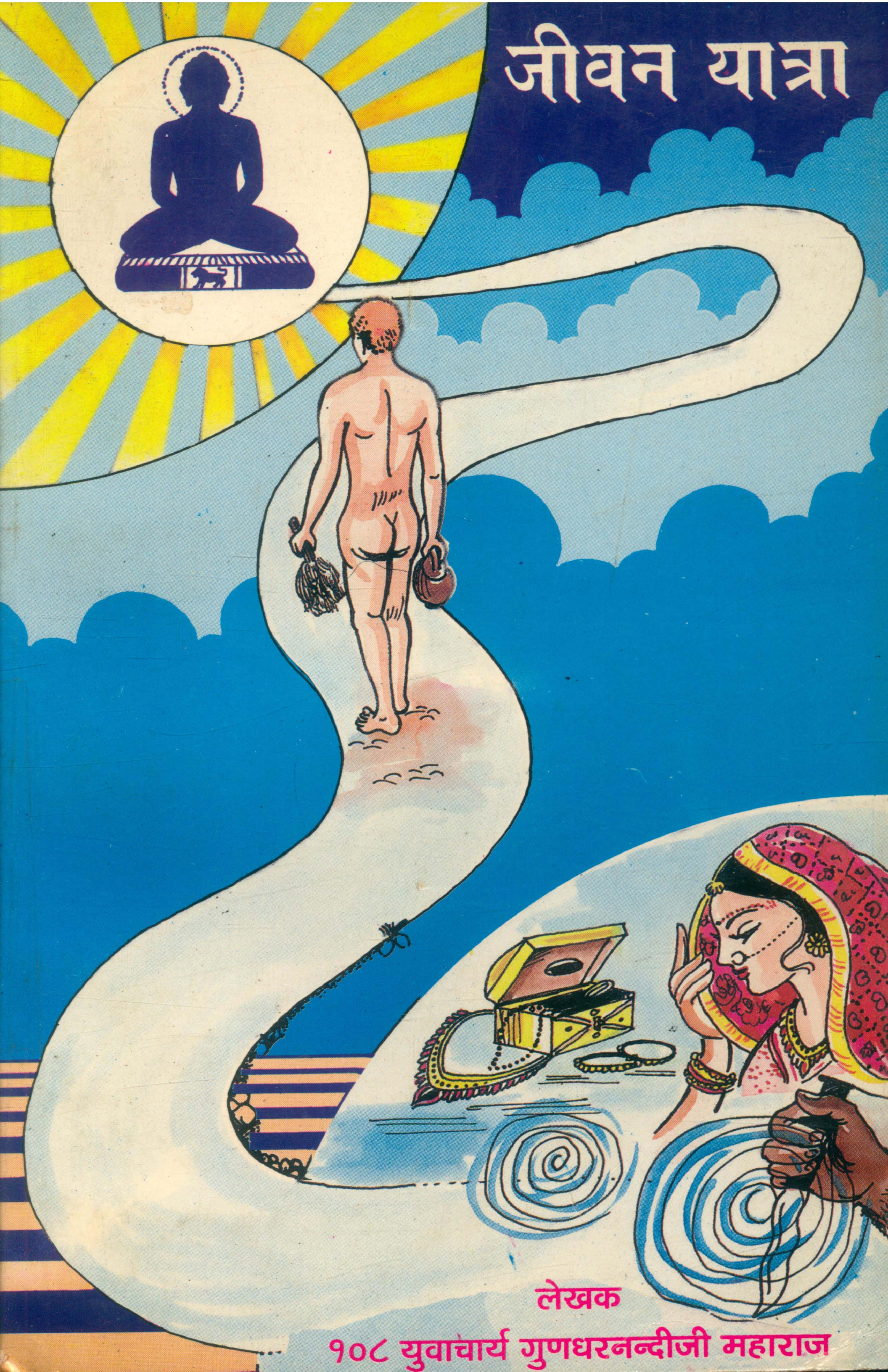

लेखक

१०८ युवाचार्य गुणधरनन्दीजी महाराज

जीवन यात्रा

(बारह अनुप्रेक्षाओं का सरल विवेचन)

लेखक
युवाचार्य १०८ मुनिश्री गुणधरनन्दीजी
(प. पू. गणधराचार्य १०८ श्री कुन्थुसागरजी महाराज के शिष्य)

श्री मुन्नालालजी की पुण्यस्मृति में प्रकाशित
श्रीमान हर्षद जैन निवासी बाराबंकी वर्तमान बंबई निवासी
के सुपुत्र एवं पुत्रवधुश्री ज्ञानचंदजी-सुमनदेवी जैन
एवं
श्री महेन्द्रकुमार-मीनादेवी जैन
के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित।

प्रकाशक
श्री दिगम्बर जैन दिव्य ध्वनि प्रकाशन,
जयपुर-३०२००३

जीवन यात्रा
(बारह अनुप्रेक्षाओं का सरल विवेचन)

लेखक
युवाचार्य १०८ मुनिश्री गुणधरनन्दीजी

प्रकाशक
श्री दि. जैन दिव्य ध्वनि प्रकाशन,
जयपुर-३०२००३

लेसर टाइप सेटर्स
श्री कुन्थुसागर ग्राफिक्स सेन्टर,
६, उमियादेवी सोसायटी नं. २,
अमराईवाड़ी, अहमदाबाद-३८००२६

द्वितीय आवृत्ति : १९९७

प्रतियाँ - १०००

मूल्य - २५ रुपये/- मात्र

प्राप्ति स्थान
दि. जैन दिव्यध्वनि प्रकाशन
७९०, सेवापथ, लालजी सांड का रास्ता,
मोदीखाना, जयपुर-३०२००३, दूरभाष - ३१३३३०

मेरे आराध्य गुरुदेव गणधराचार्य १०८ श्री कुन्थुसागरजी महाराज
जिनकी असीम कृपा से इस संसार से विरक्त होने का साहस मिला,
ऐसे सत्य स्वरूप ज्ञान के अन्वेषक,
त्याग, तपस्या एवं वैराग्य विमल स्वरूप,
निकिल प्राणीमात्र के श्रेयक, पथ-प्रदर्थक,
मानव मात्र को धर्म पाठ सिखाने में अद्वितीय,
सुन्दर अनूठी रहनि-गहनि वाले प्रकाश पुँज मम गुरुवर्य
गणधराचार्य १०८ श्री कुन्थुसागरजी महाराज के
पुनीत कर-कमलों में यह कृति अनन्य भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक
सादर समर्पित
युवाचार्य मुनि गुणधरनंदी
गुरु चरण चंचरीक

युवाचार्य १०८ श्री गुणधरनंदीजी

एक परिचय

देवभाषा में अंकित पुण्य श्लोक में अभिव्यक्ति इन विचारों की ::

नरस्या मरणं रूपं रूपास्य भरणं गुणाः।
गुणास्य भरणं ज्ञानं, ज्ञानस्या भरणं क्षमा॥

माँ जिनवाणी के परम श्रद्धालु एवं उपासक बाल ब्र. युवाचार्य १०८ श्री गुणधरनंदीजी ज्ञान एवं गुणों के सागर हैं। आपमें रूप, गुण, ज्ञान और क्षमा का अद्भुत संगम है।

आपका जन्म प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त कर्नाटक के शमनेवाड़ी में २० दिसम्बर, १९७३ को हुआ। आपके पिताश्री निगप्पाजी जैन सरल प्रकृति के धनी थे। आपकी माताश्री भागादेवी जैन सत्यान्वेषी और स्वभाव से निर्मल थीं। संस्कार युक्त माता-पिता की छत्रछाया में आपश्री का संस्कार युक्त बाल्याकाल शुरु हुआ। आपश्री का बचपन का नाम था-राजू जैन। आपने संसार को असार जानकर इसी लक्ष्य को पूर्ण करने हेतू ११ वर्ष की अल्प आयु में गृह परित्याग किया। कल के राजू ने-'संसार में बंधकर बारम्बर जीवरूप जन्म लेता रहूँ', यह स्वीकार न होने से, वीतराग मार्ग की ओर अपने कदम बढ़ा लिये। आपकी भावना साकार हो उठी क शुभ पल में जब (उत्तर प्रदेश में बड़ौत शहर में ८ फरवरी, १९९० धर्मध्वजा पताकायें फहरा रही थी) आपश्री के वैराग्य की ओ्र कदम बढ़ चुके थे। जैन धर्म का यह सूत्र है : **प्रबल उपादान + प्रबल निमित्त= कार्यसिद्धि** । वर्ष १९८९ में बड़ौत चातुर्मास में वात्सल्य रत्नाकर गणधराचार्य १०८ श्री कुन्थुसागरजी महाराज का संघ चातुर्मास-प्रवास में था। आपश्री तब क्षुल्लक मुद्रा में थे और आपका मन प्रबल निमित्त परमहंस अवस्था पाने के लिए अधीर हो उठा।

अंग्रेजी में कथन है.... Where is a will is a way अर्थात् जहाँ चाह वहाँ राह। इसी भावना से आप संयम के उच्चतर पद मुनिपद पर आसन्न हुए। उस शुभ दिन बड़ौत की धरा धन्य हो उठी। आपको प्रतापगढ़ में (राज.) १० जुलाई १९९४ को उपाध्याय पद एवं ४ फरवरी १९९६ अणिंदा (उदयपुर) में युवाचार्य पद गुरुदेव आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज के वरद् हस्तों से प्रदान किया गया। एवं प्रशंसनीय ही कहा जायेगा।

आप लेखनी के धनी हैं। आपके सात्त्विक साहित्य सृजन में मौलिक रचनाएँ,

संग्रह एवं संपादन मुख्य हैं। आपकी लेखन-शैली रोचक भी है, सरल भी है, बोधगम्य भी है एवं साहित्यिक भी। मात्र ६-७ वर्ष की अवधि में २० कृतियों का प्रकाशन होना इसका प्रतीक है कि आपका क्षयोपशम प्रबल है।

आप बहुभाषाविद् है : हिन्दी, कन्नड़ी, गुजराती, संस्कृत और प्राकृत इन सब भाषाओं पर आपका समान अधिकार है।

जनता के पथ प्रदर्शक हैं आपश्री। आप से भविष्य में आशा है कि इस प्रकार साहित्य-निर्माण जन-जन का कल्याण करें।

आपकी लेखननी ने ''विद्यानुशासन'' जैसा वृहद ग्रन्थ जो लगभग १२०० पृष्ठ का है, उसका सम्पादन-विवेचक एवं व्याख्या हुई है। यह मंत्र-तंत्र का प्राचीन ग्रंथ है जिसकी भट्टारक मतिसागर ने रचना व टीका की थी। उसी दुर्लभ पांडुलिपि को प्राप्तकर आपने दो वर्ष लगातार परिश्रम करके उसे तैयार किया। साधकों और विशेषकर शुभ साधना के निर्दोष ग्रंथ का कार्य किया। आप अच्छे कवि प्रवचनकार एवं मंत्रशास्त्र के ज्ञाता हैं। ज्योतिष के ज्ञाता होने से लोगों को मुहूर्त का सही ज्ञान हो अतः ऐसे लघुग्रंथ का सृजन किया।

आपने पू.ग. आ. कुन्थुसागरजी के सप्त दिवसीय शिबिर में किए गये उद्‌बोधन 'सप्त परम स्थान' नामक लघुपुस्तक का संपादन कर लोगों का मार्ग प्रशस्त किया है।

अतिशीघ्र आपके आध्यात्म सभर कवित्व का परिचय आपके सद्यः प्रकाशस्य काव्य संकलन **'जीवनयात्रा'** से पाठकों को प्राप्त होगा।

श्री मुन्नालालजी की पुण्यस्मृति में प्रकाशित
श्रीमान हर्षद जैन निवासी बाराबंकी वर्तमान बंबई निवासी
के सुपुत्र एवं पुत्रवधु
श्री ज्ञानचंदजी-सुमनदेवी जैन
एवं
श्री महेन्द्रकुमार-मीनादेवी जैन
के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
१.	आद्यमिताक्षर	७
२.	अनित्यानुप्रेक्षा	१७
३.	अशरणानुप्रेक्षा	२५
४.	संसारानुप्रेक्षा	३५
५.	एकत्वानुप्रेक्षा	४९
६.	अन्यत्वानुप्रेक्षा	६५
७.	अशुचि अनुप्रेक्षा	७९
८.	आस्रवानुप्रेक्षा	९३
९.	संवरानुप्रेक्षा	१०७
१०.	निर्जरानुप्रेक्षा	१२३
११.	लोकानुप्रेक्षा	१३९
१२.	बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा	१५३
१३.	धर्मानुप्रेक्षा	१६७

जो सह ले कष्ट-दुःखों को उसे हम धीर कहते है ।
मिटा दें प्यास तृषितों की उसे शीतल नीर कहते है ॥
सुख और दुःख सह ले हँसकर उपसर्गों को जो --
जला दे कर्म-ईधन को उसे महावीर कहते है ॥

* * *

बन सहारा बे-सहारो के लिए
बन किनारा बे-किनारो के लिए।
जो जिया अपने लिए तो क्या जिया-
जी सके तो जियो हजारों के लिए ॥

आद्य मिताक्षर

जैन धर्म भाव प्रधान धर्म है। जैन धर्म की मान्यता है कि भाव से ही जीव के कर्मास्रव या कर्मबंध हैं फलस्वरूप जीव को सुख-दुःख भी भाव से ही प्राप्त होता है अर्थात् जो जीव जैसा भाव करता वैसा ही कर्मास्रव एवं कर्मबंध होता है और जैसा कर्मबंध होता है वैसा ही उस जीव को सुख दुःख प्राप्त होता है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में लिखा है।

जीव परिणामहेदुं कम्मतं पोग्गला पारिणमंति।
पोग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥

जीव अपने विकारी भावों के कारण कर्मों का बंध करता है वह कर्म इस जीव को संसार में भ्रमण कराते हैं। विनाशी भाव स्वयं के हैं। उनसे पुद्गल कर्म बांधते हैं और उनके उदय से जीव सुख दुःख का अनुभव करते हुए संसार परिभ्रमण करता है। भावों के अपराध के कारण ही कर्मजीव को संसार में घुमा रहे हैं। कर्म और जीव में भाव के कारण परस्पर संबन्ध है। इसके संबन्ध में काका कालेलकर ने महावीर निर्वाणोत्सव पर अपने एक लेख में लिखा है :- " एक डाकू को पाँच सिपाही पकड़कर ले जा रहे थे। उनके मुखिया ने डाकू से कहा कि तुम हमारे गुलाम हो, डाकू ने हँसकर कहा कि तुम भी मेरे गुलाम हो, तुम भी मुझे छोड़कर नहीं जा सकते। "

जो कर्मबंध कर लिये उन्हें तो तीर्थंकर को भी भुगतना होता है। हम भ्रम से कहें कि पुद्गल हमारा गुलाम है, पर हम भी पुद्गल के गुलाम हैं, जीव अपने भावों के कारण पुद्गल कर्म बाँधता है। और फिर उनके निमित्त से घूमता है। कहा भी है-

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तरमा विमुच्यते ॥

प्राणी स्वयं कर्म करता है, और उस कर्म का फल भी स्वयं ही भोगता है, उस कर्म के माध्यम से संसार में स्वयं ही परिभ्रमण करता है और स्वयं ही संसार परिभ्रमण छेद कर मुक्त होता है, इसके लिए आचार्यों ने उदाहरण दिया है-

जलेन जनितं पंक, जलेन परिशुद्धयते।
चित्तेन जनितं कर्म, चित्तेन परिशुद्धयते।

जिस प्रकार जल से कीचड़ की उत्पत्ति होती है और जल से ही कीचड़ स्वच्छ हो जाता है। उसी प्रकार जीव भाव के द्वारा कर्मबंध करता है और भाव के द्वारा ही कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है। अतः जीव को सुख दुःख भावकृत कर्म के द्वारा ही प्राप्त होता है। अन्य कोई दे नहीं सकता है। यही कर्म सिद्धान्त है। आगम के परमआराधक आचार्य श्री अमित गति ने कर्मसिद्धांत का निरूपण इस प्रकार किया है

स्वयं कृत यदात्मना पूरा, फलं तदियं लभते शुभाशुभं।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा।
निजार्जितं कर्मविहायदेहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति किञ्चना।
विचारयन्नेवत्म न्यमानसः परोददाति ति विमुञ्च शेमुषी ॥३-३१॥सा.पा.

अर्थात् आत्मा जैसे भाव के द्वारा कर्म करती है उसके फल की प्राप्ति मानी जाय तो स्वयं कृत कर्म निरर्थक हो जाते हैं। वास्तव में स्वयं कृत कर्मों के अतिरिक्त कोई किसी को फल प्रदान करने में समर्थ नहीं है। अर्थात् बात को भली-भाँति समझकर अन्य द्वारा फल-प्राप्ति की आशा का परित्याग कर देना चाहिए। वैदिक संस्कृति में भी लिखा है-

कर्म प्रदान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा।

आध्यात्म रामायण में बारंबार यही कहा है किः

सुखस्य दुःख न कोऽपि दाता। परोददातीति कु बुद्धिरेषा॥

अर्थात् सुख-दुःख देने वाला कोई नहीं है, स्वयं के कर्म ही देते हैं। जो दूसरा सुख दुःख देता है ऐसा मानने वाला प्राणी अज्ञानी (कुबुद्धि) है।

जिस प्रकार आम का बीज बोने से आम फल ही प्राप्त होगा और बबूल का बीज बोने से काँटेदार बबूल ही मिलेगा। ठीक इसी प्रकार प्राणी जैसा कर्म बाँधेगा वैसी ही उसे गति मिलेगी।

एक राजा ने नगर के धर्मात्मा, धनिक व्यवसायी सेठ को बुलाया और उससे कहा कि सेठजी हमारे लिए १५ दिवसमें चार वस्तुएँ मंगादो।" सेठ ने पूछा महाराज कौन सी चार वस्तुयें आपके लिए मंगानी है? राजा ने

उत्तर दिया "१- जो यहाँ पर है, वहाँ पर नहीं है। २- जो यहाँ नहीं है, वहाँ पर है। ३-जो यहाँ भी है, वहाँ भी है। ४- जो यहाँ भी नहीं है, वहाँ भी नहीं है।" सेठ राजा की इच्छित वस्तुएँ सुनकर दंग रह गया। उसकी समझ में कुछ न आया। सेठ की मुखाकृति निराशामय देखकर राजा ने कहा कि १५ दिन में यदि ये चारों चीजें आपने मंगाकर मुझे न दीं तो मैं आपकी समस्त सम्पत्ति छीन लूँगा। राजा की आज्ञा सुनकर सेठ बहुत घबडाया और चुपचाप अपने घर चला आया।

राजा ने जिन चार वस्तुओं को मंगवाया है वे वस्तुएँ कौन सी हो सकती हैं और कहाँ प्राप्त होंगी? इसी उधेड़बुन में सेठ के मानस समुद्र में अनेक प्रकार की विचार तंरगे उठने लगी परन्तु उसकी समझ में कुछ नहीं आया। अपनी मित्र-मंडली से भी उसने परामर्श लिया किन्तु कोई सही निर्णय नहीं निकला। ज्यों-ज्यों समय निकट आता गया त्यों-त्यों चिंता के कारण उसका मुख मलिन और शरीर क्षीण होता जा रहा था जैसे कि उसको व्याधि लग गई हो। कहा भी है-

चिंता चिता समान है, बिन्दु मात्र विशेषता।
सजीव रहते चिंता, निर्जीव रहते चिता॥

सेठ की सेठानी बहुत चतुर थी। सेठ के मुख मण्ड़ल पर उदासी देखकर उसने सेठ से अनेक बार चिंता का कारण पूछा-किन्तु सेठ टाल-मटोल करता रहा। न छिपने योग्य उस भारी चिंता को कब तक छिपाता। जब वह सब ओर से निराश हो गया तब अन्त में एक दिन उसने अपनी पत्नी को चिन्ता का कारण कह दिया। सेठानी ने सेठ की बात मुस्कुराते हुए कहा," हे स्वामी! बस इतनी सी बात के लिए आप इतने चिन्तित हो रहे हैं, ये चारों वस्तुयें मेरे पास हैं। जिस दिन राजसभा में आप जावें, मुझे भी साथ लेते चलें। मैं राजा को चारों वस्तुयें दे दूँगी, आप निश्चिन्त रहें।" सेठ को यद्यपि सेठानी की बात पर विश्वास नहीं हुआ फिर भी आशा की किरण दिखाई दी।

नियत समय आ गया। सेठ-सेठानी प्रातः भगवान की पूजा-अर्चना करके राजसभा की ओर चल पड़े। मार्ग में सेठानी ने एक साधु को तथा एक भिखारी को अपने साथ में ले लिया और यथा समय राजसभा में जा पहुँचे। राजा प्रसन्न मुद्रा में सिंहासन पर बैठा। उसने आते ही सेठजी से

प्रश्न किया कि सेठजी! हमारी चारों चीजें आ गई? सेठ के उत्तर देने से पहले सेठानी उठकर खड़ी हो गई और मीठे स्वर में बोली- " हे राजन्! सेठजी का स्वास्थ्य जरा ठीक नहीं है, अतः उनकी सहायता के लिए मुझे आना पड़ा है। आपकी चारों वस्तुएँ आ गई, आप आज्ञा देते जाइये, मैं आपके सामने उन पदार्थों को उपस्थित करती जाऊँगी।"

सेठानी की स्पष्ट वाणी में अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ, राजा बोला कि अच्छा पहली वस्तु लाओ 'जो यहाँ है, वहाँ नहीं है। सेठानी ने कहा-यह वस्तु आपको सब से बाद में दी जायेगी। पहले आप और ले लें। राजा ने कहा अच्छा दूसरी वस्तु लाओ, जो यहाँ पर नहीं है, वहाँ पर है। सेठानी ने अपने साथ लाये साधु को राजा के सामने खड़ा कर दिया, हे राजन्! ये लीजिए इस साधु के पास यहाँ पर (इस भव मे) तो कुछ नहीं है परन्तु वहाँ पर (पर भव में) है।' तपस्या तथा परोपकार के कारण अगले भव में इनके पास सब सुख सामग्री होगी। राजा ने कहा ठीक है अब तीसरी वस्तु लाओ जो यहाँ भी है, वहाँ भी है। सेठानी ने झट अपने पति को सामने कर दिया और कहा-देखिए ये सेठजी यहाँ (इस भव में- भी सुखी है और वहाँ अगले भव में) में सुखी होंगे। इन्होंने पहले धर्म किया जिसका फल यहाँ पा रहे हैं और अब धर्मपुण्य कर रहे हैं, अतः आगे भव में भी सुख पायेंगे। राजा सेठानी के समाधान से प्रसन्न हुआ। उसने कहा अच्छा चौथी वस्तु लाओ'जो यहाँ भी नहीं है, वहाँ भी नहीं है। सेठानी ने उस भिखारी को खड़ा कर दिया और कहा- यह इस भव में कुछ नहीं और अगले भव में भी कुछ नहीं होगा।' इसने पूर्व भव में कुछ पुण्य नहीं किया इसलिए यहाँ पर भिखारी बना है यहाँ भी कुछ शुभ कार्य नहीं कर रहा है अतः अगले भव में भी दरिद्री होगा।

इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि प्राणी ने भाव के द्वारा जैसा पूर्व में कर्म बंध किया था उसका फल वर्तमान में भोगता है और वर्तमान के द्वारा कर्म बंध करेगा वह भविष्य में भोगेगा। अतः सुख-दुःख को देनेवाले और कोई नहीं स्वयं कृत कर्म ही है। बात ध्यान में रखें, अशुभ कर्म बंध तभी होगा जब हमारा मन शुभ में प्रवृत्ति करेगा। शुभाशुभ कर्मों का उच्छेद (नाश) भी भाव के द्वारा ही होता है। कहा भी है-

भावना भव नाशनि, भावना भववर्द्धनि।

हम भावों पर ध्यान दें कहीं हमारे भाव तो नहीं बिगड़ रहे हैं। अन्यथा अशुभ भाव के कारण संसार में गोते लगा ही रहे हैं। अन्य और अशुभ भाव के कारण दीर्घ संसार हो जायेगा। अतः हम अपने भावों को दशलक्षण धर्म में लगायें जिससे कर्मों की निर्जरा एवं संवर होगा। परन्तु धर्म का सही आचरण तभी हो सकता है जब हम बारह अनुप्रेक्षा का अनुप्रेक्षण चिंतन करेंगे। अनुप्रेक्षा का चिंतवन कहाँ करें? एयर कंडीशन मकान में बैठकर या जहाँ पंखा चल रहा हो, कूलर चल रहा हो, हीटर लगे हों, रेडियो चल रहा हो, और मुँह भी उसके साथ चल रहा हो वहाँ भोग-भोगते हुए भी राजा राणा छत्रपति-हो सकता है क्या? नहीं। परन्तु वर्तमान में तो लोगों ने अनुप्रेक्षा के चिंतवन को मजाक बना लिया है। घर में बैठे-बैठे लोगों की अनुप्रेक्षा का चिंतन किस तरह होता है इसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है-

'राजा राणा छत्रपति हो पंखे के साथ।
बिजली यदि बंध हो गई तो खतम हो गई बात।
खतम हो गई बात, अब शुरू हो गई क्रोध की बात।
रोजाना ऐसा ही होता है, भरी गर्मी में नहीं देती साथ.
ये बिजली वाले सब हराम का खाते हैं।
देते नहीं बिजली और बिल लेने आते हैं।
हे प्रभु! कितना अत्याचार फैल गया है।
व्यर्थ में पाँच रूपये का तेल जल गया है।'

अनुप्रेक्षा का चिन्तन करते-करते पंखा बन्द हो जाय तो आपका क्रोध बाहर आ जाता है, और अनुप्रेक्षा चिंतन को छोड़कर सरकार को ही गाली देने लग जाते हैं। ध्यान रहे अनुप्रेक्षा का चिन्तन वातानुकूलित कमरों में गद्दों पर बैठकर त्रिकाल में भी संभव नहीं है। भावना का समीचीन (सम्यक्) चिन्तन वही कर सकता है, जिसने महाव्रत स्वरूप चारित्र को अंगीकार कर लिया है।

अनुप्रेक्षा-याने चिन्तन, बार-बार चिन्तन का नाम अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा १२ प्रकार होने के कारण अधिकांशतः 'बारह भावना' के नाम से ही जानी

जाती है। व्यवहार में सर्वाधिक प्रचलित नाम 'बारह भावना' ही है। अनुप्रेक्षा नाम को विद्वत्परिषद् के अतिरिक्त बहुत कम लोग जानते हैं। चिन्तन ध्यान की प्रथम सीढ़ी है। रुचि ध्यान की नियामक होने से चिन्तवन की भी नियामक है। जिस विषय में हमारी रुचि होती है उस पर ध्यान सहज चला जाता है। उसका चिन्तन-मनन भी सहज ही चलता है। किसी वस्तु (विषय) के अन्वेषण की जिज्ञासा भी चिन्तन को प्रेरित करती है। अन्वेषण की जिज्ञासा जितनी प्रबल होगी, उसके अनुपात में चिन्तन भी गंभीर होगा। अतः चिन्तन शोध, अन्वेषण, खोज, अनुसंधान का भी आधार है। इसलिए चिन्तन किसी वस्तु को समझने के लिए भी होता है और समझी हुई वस्तु के लिए भी होता है। अनुप्रेक्षा चिन्तन स्वरूप होने से ज्ञानात्मक है, ध्यानात्मक नहीं। अनुप्रेक्षा और ध्यान का अंतर स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंकदेव राजवार्तिक, अध्याय ९, वार्तिक १३ में लिखते हैं।

स्यादेत दनुप्रेक्षाऽपि धर्मध्यानेऽन्तर्भवतीति प्रथम गासामुपमे शोऽनर्थक इति, तन्न, किं कारणं ? ज्ञान प्रवृत्ति विकल्पत्वात्। अनित्यादि विषय चिन्तनं यदा ज्ञानं तदानुप्रेक्षा व्यपदेशो भवति, यदातत्रैकाग्र चिंतानिरोधस्तदा धर्म्मध्यानम्।

अनुप्रेक्षाओं का धर्मध्यान में अंर्तभाव हो जाने से उनका प्रथक् कथन करना उचित नहीं है- यदि कोई ऐसा कहे तो उसका कथन ठीक नहीं है क्योंकि अनुप्रेक्षाएँ ज्ञान प्रवृत्ति रूप होने से विकल्पात्मक है और अनित्य आदि विषयों का चिन्तन करके चित्त एकाग्र होने पर धर्मध्यान नाम पाता है। वैराग्योत्पादक, तत्वपरक, चिन्तन ही अनुप्रेक्षा है। आवश्यकता मात्र चिन्तन की नहीं है, वैराग्योत्पादक, तत्त्वपरक चिन्तन की है। संज्ञी(मन सहित) प्राणी कोई भी चिन्तन से रहित नहीं है परन्तु सामान्य जनों के चिन्तन का विषय बहुलतः पंचेन्द्रिय के विषय ही रहते हैं, कषाय चक्र ही उनके चिन्तवन का आधार होता है।

कषाय के आधार से पंचेन्द्रिय विषय की पूर्ति के लक्ष्य से किया गया चिन्तन अनुप्रेक्षा नहीं वह तो चिंता है। जो चिता से भी अधिक दाहक होती है। कवि ने कहा भी है-

'चिंता चेतन को दहे, चिता दहे निर्जीव।'

प्राणी मात्र को संसार के दुःखों से छूटने के लिए एवं सुख प्राप्ति के लिए आवश्यकता चिंतन और ध्यान के प्रशिक्षण की नहीं, अपितु सम्यक् दिशा निर्देश की है क्योंकि चिन्तन और ध्यान तो हर संज्ञी प्राणी को सरलता से संभव है। यदि चिन्तन की धारा और ध्यान का ध्येय यदि सम्यक् नहीं है तो वह चिन्तन और ध्यान भव ताप नाशक न होकर भव समुद्र में भटकाने का हेतु बन जाता है।

अतः चिन्तन की धारा में और ध्यान ध्येय में सम्यक् की आवश्यकता ही नहीं है। अपितु अनिवार्य है।

चिन्तन की धारा में सम्यक् नियमन ही अनुप्रेक्षाओं के प्रतिपादन का मूल केन्द्र बिन्दु है। अतः अनुप्रेक्षा के चिन्तन में सम्यक् नियमन ही भव ताप नाशक बन जाता है। सम्यक्ता के अभाव में संसार का कारण बन जाता है।

जिस प्रकार हवा के लगने से आग प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से समतारुपी सुख जागृत हो जाता है। और धीरे-धीरे कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने वारस अणुवेक्खा में अनुप्रेक्षा का माहात्म्य इस प्रकार दर्शाया है-

किं पल वियेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तज्ञाणह तस्स महाप्पं॥ ९०॥

आचार्यदेव कहते हैं इस विषय में अधिक प्रलाप करने से क्या लाभ है, बस इतना समझना कि भूतकाल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्य में जो भी भव्य प्राणी सिद्ध होंगे- यह सब बारह अनुप्रेक्षाओं का ही माहत्म्य है। अर्थात् अनुप्रेक्षा ही सिद्धत्व के लिए कारण है। आचार्य पद्मनंदीजी ने, पद्मनंदी पंचविंशतिका में भी कहा है-

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवत्येव, कर्मणां क्षयकारणं॥

भव्य जीवों को बारह भावनाओं का सदा ही चिन्तन करना चाहिए क्योंकि भावनाओं का चिन्तन कर्मों के क्षय में कारण बनता है।

ज्ञानार्णव में भी शुभचन्द्राचार्य ने कहा है-

विध्याति कषायाग्नि विगलितरागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥१९२॥

बारह भावना की अनुप्रेक्षा से प्राणियों की कषायरूपी अग्नि शांत हो जाती है, राग गल जाता है, अंधकार विलीन हो जाता है और हृदय में ज्ञानरूपी दीपक प्रज्वलित होता है। पण्डित वर्य दौलतरामजी छहढ़ाला में कहते हैं।

मुनि सकलव्रती बड़भागी भव भोगन तें वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तै अनुप्रेक्षा भाई।
इन चिन्तन समसुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जावै, तब ही जिय शिव सुख ठानै ॥ १ ॥

बड़े ही भाग्यवान् और सकल चारित्र के धारक मुनिराज संसार और इन्द्रिय भोगों से विरागी रहते हैं। इसलिए हे भाई! जिसप्रकार मां पुत्र को उत्पन्न करती है उसी प्रकार वैराग्य को उत्पन्न करने वाली भावनाओं का निरंतर चिन्तवन करना चाहिए। अनुप्रेक्षा के चिन्तवन से ममतारूपी सुख भी प्राप्त होता है।

परमागम में इस संसार को एक समुद्र कहा है, इस समुद्र में जीव स्व-कृत कर्मानुभव है अर्थात् जीवों के द्वारा स्वयं किए गए कर्मों का फल स्वयं को भुगतना पड़ता है तथा यह समुद्र अत्यन्त दुस्तर है, व्यसनरूपी भँवरों से भरा हुआ, दुःखरूपी जल-जन्तुओं से व्याप्त है, अपार है, अत्यन्त गहरा होने से उसकी थाह का भी पता नहीं है। इस प्रकार दुस्तर समुद्र संसार प्राणी द्वारा तिरा नहीं जा सकता परन्तु अनुप्रेक्षाएँ रूपी नौका से तिरा जा सकता है। ये अनुप्रेक्षाएँ जीवों के संताप को दूर करने के लिए चन्द्र सदृश हैं। ये अनुप्रेक्षाएँ भव्य जीव रूपी तृषित पृथ्वी के लिए दयारूपी जल से परिपूर्ण जलधर के समान हैं। ये अनुप्रेक्षाएँ भ्रम तथा अज्ञान (मिथ्यात्व) रूपी अनादिकालीन अंधकार को नाश करने के लिए सूर्यतुल्य हैं। अतः भव्य प्राणी को इन अनुप्रेक्षाओं का प्रतिदिन अनुप्रेक्षन, चिन्तन, मनन करके अपना भवोद्धार करना चाहिए।

इस पुस्तक के साहित्यिक मूल्य एवं सामाजिक उपयोगिता के बारे में

मुझे कुछ भी नहीं कहना है, क्योंकि यह कार्य साहित्य-समीक्षकों एवं समाजशास्त्रीय विद्वानों का है, इस पुस्तक की रचना में मैंने आचार्य कुन्दकुन्द देव एवं स्वामी कार्तिकेय से लेकर अद्यावधि उपलब्ध बारह भावना साहित्य का पूर्णरूप से उपयोग किया है। अतः उन सभी का मैं चिर कृतज्ञ हूँ। इसमें मेरा कुछ भी नहीं है, जो भी है, वह सब आगम और परमागम में उपलब्ध अनुप्रेक्षा की सहायता लेकर मैं ''जीवनयात्रा'' नामक पुस्तक की रचना कर आप लोगों को प्रेषित कर रहा हूँ। इसको सरल सुबोध बनाने के लिए यत्र-तत्र विषय की प्रसिद्ध कथायें, तथ्यांश तथा चित्र भी दिये गये हैं। यद्यपि इसमें बहुत सी त्रुटियाँ होंगी और होना संभव है क्योंकि मैं अल्पज्ञ हूँ। अतः विज्ञजन सुधारकर पढ़े एवं अगली वृत्ति (पुनरावृत्ति) में संशोधित किया जा सके इसके लिए त्रुटियों को अवगत कराने का कष्ट करें।

इस पुस्तक के द्रव्यदाताओं को मेरा शुभाशीर्वाद है। पुस्तक प्रकाशन, संयोजक श्री पदमशाह को भी मेरा शुभाशीर्वाद जिन्होंने पुरुषार्थ करके इस पुस्तक को प्रकाशित करवाया, इसी तरह धर्म कार्य वे आगे भी करते रहें। इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

-: आभार :-

डॉ. शीतलचन्द जैन प्राचार्य श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर।

डॉ. सन्तकुमार जैन, श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय जयपुर सुश्री कामिनी सौगाणी, जयपुर ।

श्री डी. डी. मिश्रा, जनसम्पर्क अनुभाग राज्य विद्युत मण्डल, जयपुर।

सभी द्रव्यदाताओं को जिनके द्रव्य से यह प्रकाशन सम्भव हुआ।

सभी ज्ञात और अज्ञात सहयोगियों का जिन्होंने इस प्रकाशन को यह रूप दिया।

पुनः प्रकाशनार्थ डॉ. शेखरचन्द्र जैन, श्रीकुन्थुसागर ग्राफिक्स सेन्टर, अहमदाबाद

पदमशाह पत्रकार

प्रकाशन संयोजक

1 अनित्यानुप्रेक्षा

जीवन की क्षणभंगुरता

1 अनित्यानुप्रेक्षा

प्रत्येक वस्तु स्वभाव से नित्य और अनित्यात्मक है। जैन सिद्धान्त की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु-द्रव्य, गुण और पर्यायों का एक समुदाय मात्र है और पर्याय के समुदाय से अतिरिक्त वस्तु नाम की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। यदि संसार की किसी वस्तु की बुद्धि और यंत्रों के द्वारा परीक्षा की जाय तो गुण और पयार्य के अतिरिक्त कुछ भी प्रमाणित नहीं हो सकेगा। तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वामी ने ''गुणपर्ययवत् द्रव्यं'' के द्वारा गुण और पयार्य से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहा है। वही सत् है जो सत्, सत्तावान है वही द्रव्य है। सत् का कभी नाश नहीं होता और जिसका नाश होता है वह कभी भी सत् नहीं हो सकता और पर्याय भिन्न नहीं है, दोनों के संयोग (मेल) से एक

वस्तु तैयार होती है। यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिए कि गुण और पर्याय की कोई पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता है। वस्तु अखण्ड पिण्ड है। बुद्धि भेद से उसमें भेद की प्रतीति होती है। किन्तु वास्तव में वह भेद नहीं है। जैसे स्वर्ण में पीलापन एक गुण है और त्रिकोर, चोकोर, कटक, केयूर आदि पर्याय हैं, स्वर्ण सर्वदा अपने गुण और किसी न किसी पर्याय से संयुक्त ही रहता है। स्वर्ण से उसके गुण और पर्याय को क्या किसी ने कभी पृथक् देखा है और क्या गुण और किसी भी पर्याय के बिना कभी किसी ने स्वर्ण को देखा है? अतः पतित्व आदि गुण आर कटकादि पर्यायों से भिन्न स्वर्ण का पृथक् अस्तित्व नहीं है और न स्वर्ण से भिन्न उन दोनों का ही कोई अस्तित्व है अतः वस्तु गुण और पर्यायों के एक अखण्ड पिण्ड का ही नाम है। उसमें से गुण तो नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती हैं। जैसे, स्वर्ण में पीलापन सर्वदा रहता है किन्तु उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं, कभी उसका कड़ा बनाया जाता है, कभी कड़े को गलाकर अँगूठी बनाई जाती है। इसी प्रकार जीव में ज्ञानादि गुण सर्वदा रहते हैं किन्तु उसकी पर्याय बदलती रहती है कभी वह मनुष्य होता है, कभी तिर्यंच होता है और कभी कुछ और होता है। इस प्रकार जिन वस्तुओं को हम नित्य समझते हैं वे भी सर्वथा नित्य नहीं हैं। सर्वथा नित्य का अर्थ है, उसमें परिवर्तन नहीं होना, सदा सर्वदा ज्यों की त्यों एकरूप ही बनी रहे, उसमे कुछ भी परिवर्तन न हो। हमारी दृष्टि से दिखाई देने वाली वस्तुओं में प्रतिक्षण जो परिवर्तन हो रहा है, वह स्पष्ट ही है, किन्तु जिन वस्तुओं को हम इन चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकते हैं जैसे कि सिद्ध परमेष्ठी, उंनमें भी परपदार्थों के निमित्तसे तथा अगुरु-लघु नाम के गुणों के कारण प्रतिसमय परिवर्तन होता रहता है। इस प्रतिक्षण की परिवर्तन शीलता को दृष्टि में रखकर ही बौद्धधर्म में प्रत्येक वस्तु को क्षणिक माना गया है किन्तु जैसे कोई वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है वैसे ही सर्वथा क्षणिक भी नहीं है। सर्वथा क्षणिक का अर्थ होता है वस्तु का समूल नष्ट हो जाना, उसका कोई अंश शेष नहीं रहता। जैसे घड़े को फूटने से टुकड़े हो जाते हैं। यदि ये टुकड़े भी बाकी न बचें तो घड़े को सर्वदा (हमेशा) क्षणिक कहा जा सकता है किन्तु घड़े का रूपान्तर टुकड़े होने से तो यही मानना पड़ता है कि घड़ा रूप से अनित्य है, क्योंकि उसके ठीकरे होने पर घड़े का

अभाव हो जाता है किन्तु मिट्टी की दृष्टि से वह नित्य है, क्योंकि जिस मिट्टी से वह बना है, वह मिट्टी घड़े के साथ ही नष्ट नहीं हो जाती है, अतः प्रत्येक वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। इस दृष्टि से पण्डित जयचंदजी छाबड़ा कृत बारह भावना और पण्डित दीपचन्द जी कृत बारह भावना में निम्नांकित छन्द दृष्टव्य हैं।

द्रव्य रूप करि सर्व थिर, परजय थिर है कौन ?
द्रव्य दृष्टि आपा लखौं, परजय नय करि कौन ॥ (जयचन्द कृत)
द्रव्यदृष्टि से वस्तु थिर, पर्याय अथिर निहार।
तासे योग वियोग में, हर्ष-विषाद निवार । (दीपचन्द कृत)

उक्त छन्दों में वस्तु के विषय में द्रव्य दृष्टि से और पर्याय दृष्टि से चर्चा की गई है, जिसमें बताया गया है कि द्रव्य दृष्टि से सभी वस्तुएँ स्थिर हैं और पयार्य दृष्टि से कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है।

अनित्य भावना में दृष्टि से ही चिन्तवन-मनन किया जाता है। पर्यायों के सर्वांग स्वरूप का विवेचनात्मक चिन्तन या विश्लेषणात्मक विचार करना अनित्य भावना नहीं है, अपितु पर्यायों की अस्थिरता, क्षणभंगुरता का वैराग्यपरक चिन्तन ही अनित्य भावना का मुख्य उद्देश्य है क्योंकि आत्म कल्याण के संयोगी पर्यायों पर दृष्टि केन्द्रित करना उपयोगी नहीं, अपितु उन पर से दृष्टि हटाना आवश्यक समझता है, दृष्टि को पर्यायों से भिन्न द्रव्य स्वभाव का ज्ञान न होने से अनादि काल से इस आत्मा ने पर पर्यायों को ही अपना मान रखा है। उन्हीं पर ममत्व कर रहा है और उन्हीं को सर्वस्व मान रखा है, परिणामस्वरूप अनन्त दुःख को भुगत रहा है और दिन रात दुःख दूर करने के लिए प्रयत्न कर रहा है फिर भी दुःख दूर नहीं हो रहा है क्योंकि पुरुषार्थ ही उल्टी दिशा में गतिशील है।

जिन पर्यायों में इसने अपनत्व और ममत्व स्थापित कर रखा है, उन्हें ही स्थायी रखना चाहता है, उसी लक्ष्य को पाने को निरन्तर प्रयत्नशील भी रहता है, परन्तु वे तो स्वभाव से ही क्षणभंगुर हैं, विनाशक हैं, अतः उनका नित्य (स्थायी) रहना तो असंभव है। इस बात को आचार्य कुन्दकुन्द देव ने मूलाचार में लिखा हैः

सामग्गिंदियरूषं मदि जोबण जीवियं बलं तेजं।
गिह सयणासण भंडादिया अणिच्चेति चिंतेज्जो ॥ ६९६ ॥

सामग्री (हाथी घोड़ादि), इन्द्रियाँ, रूप, बुद्धि, यौवन, जीवन, बल, तेज, घर, शयन, आसन और बर्तनादि सभी क्षणभंगुर, विनाशक हैं। पं. दौलतरामजी ने भी इसी असार को छहढाला की पंचम ढाल में दर्शाया है :

जोवन गृह गो-धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय भोग छिन थाई, सुरधन चपला चपलाई ॥ ३ ॥

अर्थात् जवानी, घर, गाय-भैंस, स्त्री, घोड़ा आज्ञाकारी सेवक, इन्द्रियों के विषय आदि सभी वस्तुएँ बिजली के समान चंचल और इन्द्र धनुष के समान क्षणिक हैं।

अनित्य भावना में अनित्य पक्ष को उभारा जाता है। इसी सत्य से परिचय कराया जाता है, इसी तथ्य को अनेक प्रकार की युक्तियों से उजागर किया जाता है। तथ्य को उजाकर करते हुए आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है।

जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जोव्बणं जरा- सहियं।
लच्छी विणास-सहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥ ५ ॥

अर्थात् जन्म मरण के साथ अनुबद्ध होता है, यौवन बुढापे के साथ सम्बन्ध रखता है और लक्ष्मी विनाश के साथ अनुबद्ध होती है। इस प्रकार सभी वस्तुओं को क्षणभंगुर जानो। जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है। फिर भी अज्ञानी प्राणी अमर होने की कल्पना एवं प्रयत्न करता है। परन्तु मृत्यु एक शाश्वत सत्य है, जबकि अज्ञानी की अमरता एक काल्पनिक उड़ान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि भूतकाल में अगणित परमवीरों में से आज कोई दिखाई नहीं देता। यदि किसी को शारीरिक अमरता प्राप्त हुई होती तो वे आज हमारे मध्य अवश्य होते।

कविवर मंगतरायजी ने बारह भावना में कहा भी है :

कहाँ गये चक्री जिन जीता भरत खण्ड सारा,
कहाँ गये राम अरु लछमन जिन रावण मारा,
कहाँ कृष्ण रूक्मणी सतभामा अरूसंपति सगरी,
नहीं रहे वह रंगमहल अरु सुवरन की नगरी ॥ १ ॥

कहाँ गये वह लोभी कौरव जूझ मरे रन में
गये राज तज पांडव वन को अगिन लगी तन में।
मोह नींद से उठ रे चेतन तुझे जगावन को,
हो दयाल उपदेश करैं गुरु बारह भावन को ॥२॥

यह सब जानते हुये भी अज्ञानी जीव अमर होने का प्रयत्न करता है और मृत्यु से छुटकारा पाना चाहता है। इसी अज्ञानी दशा पर मुझे एक उदाहरण याद आ रहा है।

एक कलाकार मूर्तियों का निर्माण करता था। मूर्ति निर्माण कला में उसने विशेष क्षमता प्राप्त कर ली थी। एक बार किसी ज्योतिषी ने उसे बताया कि अमुक दिन उसकी मृत्यु होगी। यह बात सुनकर कलाकार घबराया। वह मृत्यु से बचने का उपाय ढूंढने लगा। उसने यमराज को ठगने के लिए आठ-दस ऐसी मूर्तियाँ बनाई जो उसकी अपनी आकृति के समान थी। उसमें और मूर्तियों में भेद करना भी कठिन था। उनको एक कक्ष में सजाया और उनके बीच में खड़ा हो गया। निश्चित समय पर यमराज आया। वह पहचान नहीं पाया कि उसे किसको लेकर जाना है।

कुछ देर वह द्विधा में खड़ा रहा। उसके बाद उसने कलाकार को गालियाँ देना शुरू कर दिया। वह अपनी सांस रोककर खड़ा हुआ था। यम उसे पकड़ नहीं सका। यम का यह प्रयास विफल गया। यम ने दूसरा प्रयास किया। इस प्रयोग में यम ने कलाकार की प्रशंसा करते हुए कहा, वाह! गजब की कला है। ऐसा विलक्षण कलाकार तो इस धरती पर एक ही होगा। कैसी सुन्दर मूर्तियाँ बनी हैं, एक से एक बढ़कर पर इनमें थोड़ी सी कमी है।

यह सुनते ही कलाकार बोल उठा "कौन सी कमी है?" यमराज ने कहा, यही कमी है कि मैं ढूँढता-ढूँढता परेशान हो गया तो भी पहचान में नहीं आया। यह कहकर यमराज उसे उठाकर ले गया।

अतः निष्कर्ष निकलता है कि मृत्यु से बचने का उपाय कर लेने पर भी आत्मा अमर नहीं हो सकती, एक दिन सबको मरना ही होगा। कहा भी है:

राजा राणा छत्रपति, हथियन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार॥

यह अज्ञानी प्राणी यह शरीर अस्थिर है इसे कितना ही श्रृंगारित करो और पुष्ट करो, किन्तु अन्त में एक दिन मिट्टी में मिल जाना है। हे प्राणी! शरीर के समान ही लक्ष्मी भी अस्थिर है इसके पीछे, अन्याय, अत्याचार नहीं करना। लक्ष्मी और भूमि आज तक किसी की नहीं हुई इसलिए कुँवारी है, इनका पाणिग्रहण नहीं हुआ और अनादिकाल तक कुँवारी रहेगी।

यह लक्ष्मी गुणीजनों से भी अनुराग नहीं करती है। सम्भवतः गुणीजन ऐसा सोचें कि हम उत्तम कुल के हैं, धीर, जवान हैं, समस्त शास्त्रों को जानने वाले हैं, बड़े शूरवीर हैं, हम बड़े धर्मात्मा हैं, हमारा रूप कामदेव के सामन है, हमारे पराक्रम और पूज्यता आदि से प्रभावित होकर कोई उसे हमसे नहीं छीनेगा किन्तु ऐसा सोचना मूर्खता है, क्योंकि ऐसे पुरुषों में भी लक्ष्मी का अनुराग नहीं देखा जाता, वह उन्हें भी छोड़कर चली जाती है।

जैसे पानी की लहर आती और जाती है, वैसे ही इस लक्ष्मी की भी दशा जाननी चाहिए। यह अधिक दिनों तक एक स्थान पर नहीं ठहरती है, इस लक्ष्मी की दशा (स्वभाव) का वर्णन करते हुए जैनाचार्य श्री सोमप्रभ सूक्ति मुक्तावली में लिखते हैं-

निम्न गच्छति निम्नगेव नितरां निद्रेव विष्काम्भते।
चैतन्य मदिरेव पुष्यति मदं धूम्येव धत्तऽन्धताम्।
चापल्यं चपलेव चुम्बति दवज्वालेव तृष्णां,
नयत्युल्लासं कुलटाङ्ग नैव कमला स्वैरं परिभ्राम्यति ॥ १ ॥

अर्थात्- लक्ष्मी की उपमा व्यभिचारिणी स्त्री से ही की जाती है, वह लक्ष्मी कैसे है? लक्ष्मी नदी के समान सदा नीचे की ओर जाती है, नींद के समान चेतना को मूर्छित कर देती है, मदिरा के समान अहंकार को बढ़ाती है अर्थात् लक्ष्मीवान होने के कारण प्रायः मनुष्य अहंकारी हो जाते हैं। अधिक धूप के समान अंधा बना देती है। बिजली के समान मनुष्य के हृदय में चंचलता लक्ष्मी के कारण बढ़ जाती है, परिणाम में स्थिरता नहीं रहती, वन की दावाग्नि के समान तृष्णा बढ़ाती है, व्यभिचारिणी स्त्री के समान स्वच्छन्द इच्छानुसार यत्र-तत्र घूमती रहती है।

साहित्यिक वर्णन है कि लक्ष्मी समुद्र से उत्पन्न हुई है और कमल निवासिनी है, समुद्र मन्थन से विष भी उत्पन्न हुआ था अतः लक्ष्मी विष

की बहन है। समुद्र-जल से उत्पन्न होने के कारण लक्ष्मी जल के समान नीचे की ओर जाती है तथा कमल निवासिनी होने के कारण पैरों में कांटे चुभ जाने के भय से कहीं पर स्थिर नहीं रहती है। जिसप्रकार अभिमानी मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर नश्वर है, उसी प्रकार धन सम्पत्ति भी चंचल-चलायमान है। उसको न आते हुए देर लगती है, न जाते हुए देर लगती है। नीतिकार ने कहा हैः

सदा याति यदा लक्ष्मी नारिकेर फलाम्बुवत्।
विनिर्याति यदा लक्ष्मीर्गज भुक्ता कपित्थवत्॥

अर्थात् जब धन आता है तो छप्पर फाड़कर ऊँचे वृक्ष पर लगे हुए नारियल के फल में आये हुए पानी की तरह चुपचाप आ जाता है और दुर्भाग्यवश जब वह धन चले जाने का मार्ग बनाता है तब ऊपरी सब ठाठ बने रहते हुए भी ऐसे चला जाता है जैसे खाये हुए कैत्थ को हाथी टट्टी के साथ निकाल देता है। कैत्थ का फल बिना तोड़े-फोड़े साबुत खा जाता है, हाथी जब वह खाया हुआ कैत्थ टट्टी के साथ पेट से बाहर निकालता है तब वह वैसा पूरा साबुत निकालता है। टूटा-फूटा या छेददार नहीं होता, परन्तु भीतर से पूर्ण रूपेण पोला, रबर की गेंद की तरह खाली होता है। उसमें से गुदा किस तरह हाथी के पेट में निकल जाता है, पता नहीं चलता। अतः चंचल क्षणभंगुर, नश्वरशक्ति लक्ष्मी को विष कण समान समझकर त्याग देना चाहिए।

इस प्रकार आत्म हितैषी जन जगत की नश्वरता को जानकर आत्म कल्याण की ओर अग्रसर होवें-इसी पवित्र भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ। ॐ नमः ॥

मुक्तक सुनते ही आदमी भाव विभोर हो जाता है,
मुक्तक सुनते ही आदमी का मन प्रफुल्लित हो जाता है।
अधिक क्या कहूँ महानुभावो मुक्तक के विषय में,
मुक्तक की झंकारें सुनते ही आदमी स्वचेत हो जाता है॥

2 अशरणानुप्रेक्षा

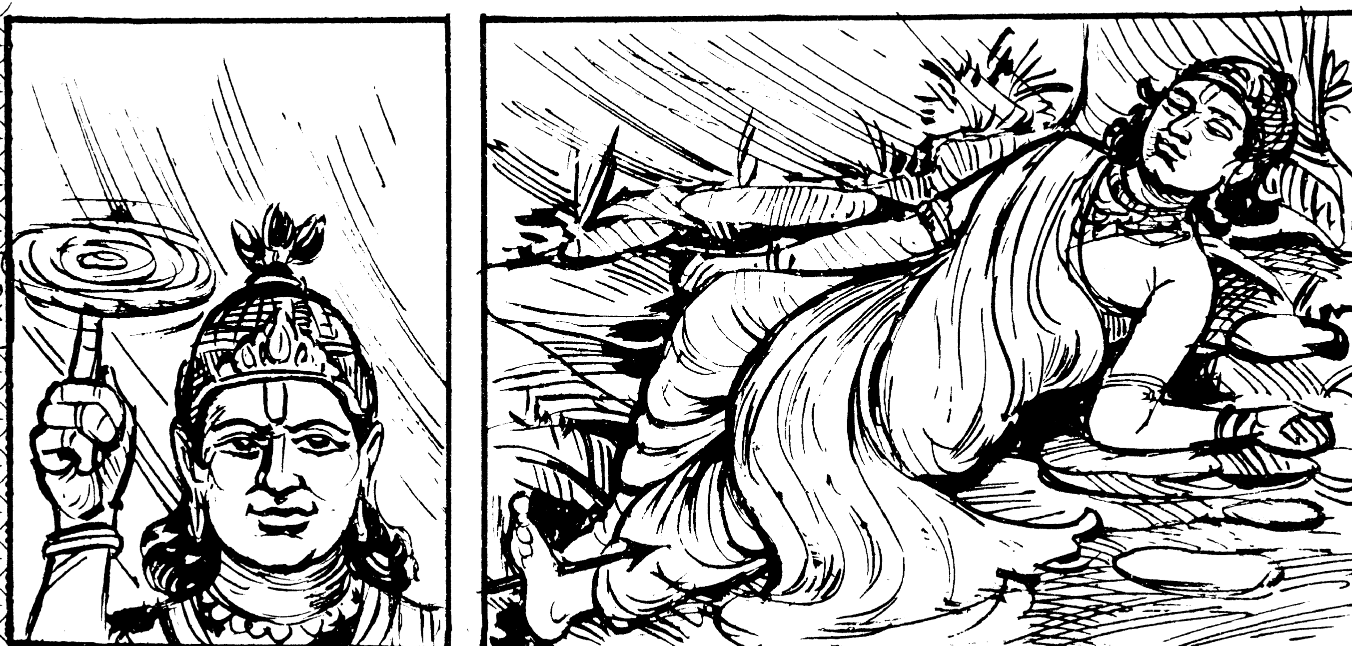

जीवन का अशरणपन

2 अशरणानुप्रेक्षा

अनित्यभावना में सभी पर्यायें अध्रुव हैं, अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं, नश्वर हैं, तो भी अज्ञानी जीव अज्ञान वश तथ रागवश पर्यायों को स्थिर करने का प्रयत्न करता है। उस निरर्थक प्रयत्न के शमन के लिए ही अशरण भावना को आचार्यों ने कहा है।

घड़ी की चाल की तरह ही प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण रूपान्तर हो रही है जिसप्रकार वायुयान में क्रिया स्वयं होती है, उड़ने की शक्ति उसमें किसी दूसरे पदार्थ से नहीं आया करती, उसी में निहित है परन्तु उसको वायु का सहारा मिलना भी नितान्त आवश्यक है, वायु नहीं हो तो कोई भी वायुयान उड़ नहीं सकता। यद्यपि प्रत्येक पदार्थ में परिणाम करने की उपादान शक्ति

विद्यमान है किन्तु काल द्रव्य की सहायता भी उन्हें अपेक्षित रहती है। इस बात को यूं भी कह दिया जावे कि काल द्रव्य किसी भी पदार्थ को एक ही दशा में नहीं रहने देता, स्वयं प्रति समय बदलता रहता है और अन्य पदार्थों को बदलता रहता है, तो कुछ अनुचित नहीं है।

खेत में गेहूँ का दाना बोया जाता है, उसे पृथ्वी, जल, वायु की गर्मी, नमी, हवा आदि लगती है, वह गेहूँ का बीज प्रतिक्षण बदलता हुआ अंकुर रूप निकलता है फिर स्वयं अदृश्य होकर क्रमशः पौधा बनता चला जाता है और छः माह के भीतर अपनी बचपन, प्रौढ़ और वृद्ध अवस्था बिताकर अन्त में जीव शून्य होकर मर जाता है। यदि उस गेहूँ को न बोया जाय तो क्रम से उसकी आटा, रोटी, भोजन, विष्टा आदि रूप पर्यायें पलटती रहती है। यदि गेहूँ को यो ही भण्डार में पड़ा रहने दिया जाय, तो वह एक स्थान पर अछूता पड़ा हुआ गेहूँ भी प्रतिसमय पुराना होता जाता है उसका अन्तस्तत्व बदलता जाता है। बदलते-बदलते उसका उपयोगी तत्त्व खाद्य क्षीण होता जाता है और कुछ दिन में वह सड़ कर धूल हो जाता है। यही बात लोहा, सोना, पत्थर आदि कठोर पदार्थों के विषय में है। पर्वत दिखने को जैसे के तैसे दिखते हैं, जैसे दस वर्ष पहले हिमालय था वैसा ही दस वर्ष बाद भी है परन्तु यह अपरिवर्तन स्थूल दृष्टि से है, सूक्ष्म सृष्टि से तो प्रतिसमय उसके कण-कम में परिवर्तन हो रहा है।

मनुष्य के लिए भी यही बात है। कभी वे पिता के कुछ वीर्य कणों से रजकण माता के गर्भाशय में सम्बद्ध होकर गर्भ का प्रारम्भ करते हैं। वह गर्भ प्रतिक्षण गर्भाशय में बढ़ता रहता है, प्रथम माह में छोटा होता है फिर प्रति माह उल्लेखनीय वृद्धि करता हुआ नौ माह में पूर्ण होता है। तब वह मनुष्य का पुतला माता के उदर से बाहर आता है तब उसका शैशवकाल प्रारम्भ होता है। समय-प्रतिसमय, दिन-प्रतिदिन, माह-प्रतिमाह, वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ता हुआ वह क्रमशः चलने लगता है, बोलने लगता है, बुद्धि परिपक्वता होती है, खेलने कूदने लगता है, शरीर बढ़ता है, फिर वह किशोर वय में आता है। किशोर अवस्था समाप्त होकर नया यौवन प्रारम्भ होता है। शरीर तथा आत्मा के गुणों में और अधिक विकास होता जाता है। शारीरिक वृद्धि, बल, पराक्रम ३५ वर्ष तक उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, यौवन अपनी पूर्णता पर जा पहुँचता है। तदनन्तर शारीरिक वृद्धि रुक जाती है, प्रौढ़ अवस्था

प्रारम्भ होती है। शरीर का विकास तो थम जाता है परन्तु आत्मा का विकास नहीं थमता। बुद्धि में विकास होता रहता है, अनुभव बढ़ता रहता है। शरीर की वृद्धि रुक जाती है किन्तु उसमें परिवर्तन चालू रहता है ४०वर्ष पीछे शारीरिक तत्त्व पुराने होने लगते हैं, शरीर का ह्रास होना प्रारम्भ होता है, प्रौढ़ता बढ़ती जाती है, वृद्ध अवस्था निकट आती है। साठ वर्ष के बाद वृद्ध अवस्था शुरू हो जाती है, शरीर का बल क्षीण होता हुआ शरीर को संभालने में असमर्थ होने लगता है। यह निर्बलता बढ़ते-बढ़ते प्रायः १००वर्ष तक पहुँच जाने पर शरीर को झकझोर डालती है, तब आत्मा शरीर को अपने अयोग्य समझकर छोड़ जाती है, इसको शारीरिक मृत्यु कहते हैं। देह से आत्मा का अलग हो जाना मरण है, वह अनिवार्य है क्योंकि कोई शरण नहीं है। अतः यही अशरण हैः इसका चिन्तन ही मुख्यतः अशरण भावना है।

इसी अशरण भावना सम्बन्धी निम्नांकित छन्द दृष्टव्य हैं-

''दल-दल देवी देवता, मात-पिता परिवार ।
मरती बिरयाँ जीव को, कोई न राखन हार।''

अर्थात् जीव का मरण समय आ जाने पर सेना की शक्ति, देवी-देवता, माता-पिता और परिजन मरने से कोई भी नहीं बचा सकते। इस बात को छहढ़ाला में भी कहा है-

सुर-असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरिकाल दले ते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ।४।५

अर्थात् जैसे वन का राजा सिंह मृगों को निर्दयतापूर्वक मसल डालता है वैसे ही देवता, असुर एवं विद्याधरादि जितने भी शक्तिशाली जीव हैं, वे सभी काल (यमराज) द्वारा मसल दिये जाते हैं। यद्यपि लोक में मणि, मंत्र-तंत्र बहुत रहने पर भी मरते समय कोई नहीं बचा सकता है।

विदेह देश में मिथिला नाम की नगरी है। उसमें सुभोग नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम मनोरमा था। उनका देवरति नामक युवा पुत्र था। एक बार देवकुरु नाम के तपस्वी आचार्य संघ के साथ मिथिलानगरी के उद्यान में आकर ठहरे। उनका आगमन सुनकर राजा

सुभोग मुनियों की वन्दना करने गया और आचार्यश्री को नमस्कार करके उनसे पूछने लगा- " मुनिराज मैं यहाँ से मरकर कहाँ जन्म लूँगा?" राजा का प्रश्न सुनकर मुनिराज बोले-'हे राजेन्द्र! आज से सातवें दिन बिजली के गिरने से तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी और तुम मर कर अपने शौचालय में विष्टा के कीड़े होओगे। हमारे इस कथन की सत्यता का प्रमाण यह है कि, आज तुम यहाँ से जाते हुए जब नगर में प्रवेश करोगे तब मार्ग में एक भौंरे की तरह काले कुत्ते को देखोगे।

राजा ने आचार्य महाराज को वंदना करके नगर की ओर प्रस्थान किया। नगर प्रवेश करने जा रहा था कि सामने काला कुत्ता देखकर अब उसको निश्चय हो गया कि अब मैं नहीं बच सकता हूँ। राजमहल में जाकर उसने मंत्रियों को बुलवाया और अपना सारा हाल सुनाया। राजा ने कहा, 'आप लोग कैसे भी करके मुझे बचाने का उपाय करें' राजाज्ञानुसार राजा को एक सन्दूक में बंद करके समुद्र में रख दिया। सातवें दिन एक मगर ने उस सन्दूक को समुद्र से बाहर खींच लिया। जैसे, सन्दूक बाहर निकला, अचानक बिजली गिरी, उस बिजली के गिरते ही राजा की मृत्यु हो गई। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि मरने का समय आने पर मृत्यु से बचने का कितना भी उपाय करने पर भी मृत्यु से नहीं बचा जा सकता। निम्नांकित छन्द में रूपसे अशरण भावना का मुख्य यही भाव स्पष्ट किया गया है

काल सिंह ने मृग चेतन को घेरा भव वन में।
नहीं बचावन हारा कोई यों समझो मन में।
मंत्र-तंत्र सेना धन सम्पत्ति राज-पाट छूटै।
वश नहीं चलता काल लुटेरा काय नगर लूटे।
चक्र रत्न हलधर सा भाई काम नहीं आया॥
एक तीर के लगत कृष्ण की विनश गई काया।
देव-धर्म-गुरु शरण जगत में और नहीं कोई।
भ्रम से फिरै भटकता चेतन यूँ ही उमर खोई॥

अर्थात् काल रूपी सिंह ने जीवरूपी मृग को इस संसाररूपी वन में घेर लिया है। इस जीवरूपी मृग को कालरूपी शेर से बचाने वाला कोई नहीं है- यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। जब कालरूपी लुटेरा कायरूपी

नगर लूटता है, तब किसी का वश नहीं चलता, मंत्र-तंत्र सब धरे रह जाते हैं, सेना खड़ी देखती रह जाती है और राज-पाट तथा धन-सम्पत्ति सब छूट जाती है।

चक्ररत्न और बलदेव जैसा भाई काम नहीं आया और श्रीकृष्ण की काया एक तीर के लगने से नष्ट हो गई। अतः जगत में एक मात्र देव-शास्त्र गुरु एवं धर्म ही परम शरण है और कोई नहीं। शरण की खोज में इस जीव ने सम्पूर्ण आयु भटकते हुए व्यर्थ में ही खो दी है।

या संसार महावन भीतर भ्रमते छोर न आवे।
जन्म जरा मृत्यु बैरी धावे जीव महा दुःख पावे॥

अर्थात् संसार रूपी विशाल जंगल में भटकते हुए संसारी जीव के भ्रमण का अन्त नहीं आता है। जन्म, जरा (बुढ़ापा) और मरण रूपी शत्रु सदा इसका पीछा करते रहते हैं जिसके कारण संसारी जीव को महान दुःख भोगना पड़ता है।

मरण से बचने के लिए प्रत्येक जीव यत्न करता है, अपनी सुरक्षा के उपाय करता है परन्तु सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। मृत्यु को रोकने के लिए कोई भी यत्न अभी तक सफल सिद्ध नहीं हुआ है। मनुष्य और सबसे जीत सकता है परन्तु मृत्यु से उसको हार खानी पड़ती है।

मनुष्य अपने सुखी जीवन हेतु अन्य के प्राण लेने के लिए तैयार हो जाता है परन्तु मृत्यु उसे भी नहीं छोड़ती।

एक बार चोरों ने चोरी की। चोरी का धन लेकर वे एक निर्जन सूने स्थान पर पहुँचे। वहाँ पर उनको भूख लगी तो दो चोर भोजन लेने के लिए नगर में गये और दो उस धन की रखवाली के लिए वहाँ पर ही रह गये।

नगर में गये हुए चोरों ने स्वयं हलवाई की दुकान पर बैठकर भोजन कर लिया और अपने साथियों के लिए पूड़ी, मिठाई खरीदी और चल पड़े। मार्ग में उनके हृदय में पाप आया कि अगर हमारे साथी मर जावें तो चोरी का सारा माल हमें मिल जायेगा। इस विचार से उन्होंने उस भोजन में विष मिला दिया। उधर धन की रखवाली करने वाले दोनों चोरों ने सोचा कि यदि नगर में गये हुए दोनों चोरों को आते ही मार डाला जाये तो सारा धन हमको ही मिल जायेगा। इस विचार से उन्होंने भोजन लाने वाले चोरों को मारने का प्रबन्ध कर लिया।

जैसे ही वे चोर भोजन लेकर वहाँ पहुँचे कि दूसरे दोनों चोरों ने झट तलवार से दोनों का सिर काट डाला। वे दोनों चोर मर गये। तदन्तर उन दोनों ने उस विष मिश्रित भोजन को खाया तो विष के प्रभाव से वे भी वहीं पर मौत के मुख में चले गये। जो औरों को मारने का उपाय करता है वह भी स्वयं मारा जाता है।

संसार में मृत्यु के आक्रमण से बचने के लिए अनेक यत्न और उपाय किये जाते हैं परन्तु सब निष्फल रहते हैं।

लोहमयी कोट केई कोटन की ओट करो,
कांगरेन तोप टोपी राखो पट भेरिके।
इन्द्र चन्द्र चौकायत चौकस ह चौकी देहु,
चतुरंग यमु चहुँ ओर रहो घेरी कै।
तहाँ एक भोहरां बनाय बीच बैठों पुनि बोलों,
मति कोऊजो बुलावे नाम टेरि कै।
ऐसे परपंच पांति रचो भाँति-भाँति।
कैसे न छोरे जम देख्यो हम हेरि कैं।

अर्थात् यदि कोई चक्रवर्ती सम्राट मृत्यु से बचने के लिए लोहे का कोट (किला) बनाकर उसके अनेक परकोटे लोहे के बनवा लें, कोट के ऊपर कंगूरों पर दूर तक गोले बरसाने वाली तोपे रखवा दे। इस किले के द्वार बन्द करवा दे। द्वारों पर इन्द्र, चन्द्र आदि चौकन्ने होकर सदा पहरा देते रहे तथा चतुरंग (पैदल, रथ, सवार, हाथीसवार, घुड़सवार) सेना चारों ओर से किले की रक्षा के लिए तैयार खड़ी रहें। ऐसे सुरक्षित किले में एक तलघर बनवाकर उसमें वह चक्रवर्ती बैठ जावे और ऐसी चुप्पी साध ले कि नाम लेकर बुलाने वाले को भी उत्तर न दे। ऐसे बड़े भारी अनेक प्रपंच बना लेने पर भी मृत्यु से वह नहीं बच सकता, ढूँढकर मृत्यु उस भोंहरे में से पकड़कर ले जाती है।

सारांश यह है कि मृत्यु से रक्षा करने वाला संसार में कोई भी नहीं है, बलवान से बलवान मनुष्य, देव, दानव भी मृत्यु के सम्मुख निर्बल है।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि अनेक व्यक्ति भूल से ऐसा धारणा कर लेते हैं कि 'हम अमुक स्त्री-पुरुषों के उदर पोषक हैं, उनकी

रक्षा करने वाले हैं। हमारे भण्डार से उनका पालन-पोषण हो रहा है। यदि हम चाहें तो उनके प्राणों का अन्त कर सकते हैं अर्थात् उनका जीवन-मरण हमारे हाथ में है, हम उनके रक्षक हैं और मारक भी हो सकते हैं--परन्तु उनका ऐसा विचार भ्रम मात्र है। कोई भी व्यक्ति किसी की रक्षा नहीं कर सकता जब तक कि उसके शुभ कर्म का उदय है, आयु कर्म अवशेष है। तब तक कोई किसी का विनाश नहीं कर सकता। मंत्र, यंत्र, तंत्र, औषधि आदि भी उसे ही बचा सकते हैं जिसके शुभ कर्म या आयु कर्म का उदय है। आयु कर्म समाप्त हो जाने पर कोई भी मन्त्र, तंत्र आदि नहीं बचा सकता।

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति॥

अर्थात् - भाग्य जिसकी रक्षा करता है, वह अरक्षित होता हुआ भी सुरक्षित रहता है और अभागे व्यक्ति की रक्षा की जाय तो भी नहीं बचता। भयानक वन में छोड़ा गया अनाथ प्राणी भी भाग्य उदय से जीवित रहता है और आयु के अभाव में घर में समस्त उपाय करने पर भी मर जाता है। समुद्र के बीच में लंका अपना गढ़ बनाकर, बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करके भी रावण युद्ध में लक्ष्मण द्वारा मारा गया। रावण का महान बल और उसकी बहुरूपिणी विद्या लक्ष्मण का कुछ भी न बिगाड़ सकी।

बुन्देल खण्ड का प्रसिद्ध मनस्वी देशभक्त वीर छत्रशाल जब माता का स्तनपान करने वाला छोटा बालक था, तब बादशाही फौजों से बचने के लिए उसके पिता राजा चम्पतराय और उसकी माता प्राण बचाकर भागे। अपने भागने में बाधक समझ कर शिशु छत्रशाल को एक झाड़ी में रखकर चले गये। दुधमुँहा बालक बिना माता के दूध के बिना कैसे बच सकता है? परन्तु भाग्य से उस झाड़ी के ऊपर मधु मक्खियों का एक छत्ता था। उसमें से शहद की बूँदें टपक-टपककर उस बच्चे के मुख पर गिरती रहीं। उस शहद की बूँदों को चाट-चाट कर वह बच्चा अपनी भूख मिटाता रहा, खेलता रहा, हँसता रहा, नींद आने पर सो भी लेता था। चार दिन बाद चम्पतराय ने अपने बालक की खोज की, तब वह जीवित मिला।

इतिहास प्रसिद्ध जहाँगीर की बेगम नूरजहाँ के बाल्यजीवन की भी ऐसी घटना है।

अतः जीव का रक्षक सौभाग्य है और विनाशक दुर्भाग्य है। अन्य कोई नहीं है। यूनानी ग्रन्थ ''टा इण्डिका'' में वर्णन है :

सिकन्दर बादशाह अपने देश जाते समय रास्ते में बीमार हो गया। बचने की उम्मीद नहीं थी। रानियों ने बादशाह की आखिरी इच्छा जाननी चाही, जिसके उत्तर में सिकन्दर ने कहा, ''चिकित्सक लोग अपने कंधे पर मेरा शव श्मशान तक ले जायें, अन्य कोई न ले जाय?'' सिकन्दर का जवाब विचित्र था। रानियों ने ऐसा करने का कारण पूछा तो सिकन्दर ने पुनः कहा, ''जिससे दुनिया को पता रहे कि चिकित्सक रोग की चिकित्सा कर सकते हैं मृत्यु की नहीं॥'' सिकन्दर से रानियों ने फिर पूछा? और कोई इच्छा संदेश है। सिकन्दर ने कहा- मेरी सम्पत्ति को गाड़ी में भरकर मेरे शव के पीछे-पीछे ले चलना और मेरे दोनों हाथ अर्थी के बाहर खुले रखना। रानियों ने पूछा- ऐसा क्यों? तो जवाब मिला, जिससे दुनिया यह जान जाय कि सिकन्दर जैसे बादशाह के भी मरने पर दोनों हाथ खाली थे, सारी सम्पत्ति यहीं धरी रह गयी।

सिकन्दर शहनशाह जाता रहा, सभी हाली हवाली थे।
सभी थी संग में दौलत मगर दोनों हाथ खाली थे।

अतः जैसे शेर के पंजे में फँसे हुए हिरन को कोई भी नहीं बचा सकता है, वैसे ही मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी को कोई भी नहीं बचा सकता। अगर कोई दुनिया में शरण हैं तो सिर्फ चार शरण हैं-

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि = लोक में चार शरण हैं।

अरिहंत सरणं पव्वज्जामि = लोक में अरिहंत शरण हैं।

सिद्ध सरण पव्वज्जामि = लोक में सिद्ध शरण हैं।

साहू सरण पव्वज्जामि = लोक में साधु शरण है।

केवलि पण्णतो धम्मं सरणं पव्वज्जामि = लोक में केवली द्वारा कहा हुआ धर्म शरण है। इस अशरण संसार में धर्म ही शरण (आश्रयदाता-रक्षक) है।

पाठकगण को अन्त में यह प्रश्न हो सकता है कि अनित्य और अशरण भावना में मूल-भूत क्या अन्तर है?

समाधान :- अनित्य भावना में पर्यायों के अनित्य (क्षणिक) स्वभाव का चिन्तन होता है और अशरण भावना में उनके ही अशरण स्वभाव का चिन्तन किया जाता है। अनित्य भावना का केन्द्र बिन्दु है-"मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार" और अशरण भावना का केन्द्र बिन्दू है "मरते न बचावे कोई" यहीं इन दोनों में अन्तर है। अशरण का चिन्तन-

कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः काः में जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न-विचारम्॥

मैं कौन ? तू कौन? कहाँ से आया? कौन मेरी माता? कौन मेरे पिता? यह सब असार है। ऐसा चिन्तवन - यह विश्व स्वप्न समान है, इसे छोड़कर आत्म चिन्तवन करना ही अशरण चिन्तवन है।

सभी आत्म हितैषी जन संसार की क्षण भंगुरता को जानकर के परमात्मा पद प्राप्ति के लिए अग्रसर होंवे इस पावन पवित्र भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ। ॐ नमः॥

कड़वी तुम्बी चाहे जब भी खाइये कड़वी ही लगेगी,
भीगी हुई चादर चाहे जब भी ओढ़िये भारी ही लगेगी।
जिसका जो स्वभाव है, वह कहाँ जायेगा यारो .....
संतों की वाणी चाहे जब सुनिये मधुर ही लगेगी॥

* * *

ताप भी काम आता है, शीत भी काम आता है,
वरदान भी काम आता है, शाप भी काम आता है।
अधिक क्या संतों का एक वाक्य का एक अंश भी-
जीवन में हमेशा के लिए काम आता है।

3 संसार अनुप्रेक्षा

3 संसारानुप्रेक्षा

संसरण ही संसार है और चतुर्गति परिभ्रमण का नाम ही संसरण है। गहराई से विचार करें तो दुःख का ही दूसरा नाम संसार है।

यद्यपि संसार में सुख और दुःख का वर्णन करना अशक्य है, तो भी मैं दृष्टान्त देकर उसके सम्बन्ध में कुछ लिखता हूँ :

एक पथिक, अनन्त जीवों से परिपूर्ण संसार के समान अनेक जीव जन्तुओं से परिपूर्ण किसी विस्तृत गहन वन के भीतर प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने यमराज के समान अतिशय वेग से सामने आते हुए क्रुद्ध हाथी को देखा। उससे भयभीत होकर वह पथिक भागता हुआ ऐसे कुएँ के भीतर गिर पड़ा जिसको पहले कभी नहीं देखा था। उसमें गिरता हुआ वह तृण पुंज

का (खश के गुच्छे या वृक्ष की जड़ों का) आलम्बन लेकर इस प्रकार से वहाँ स्थित हो गया जिस प्रकार कोई भव्य जीव दुर्गम नरक रूप घर में पहुँच कर धर्म का आलम्बन लेता हुआ वहाँ स्थित होता है। भयभीत होकर जब वह नीचे देखता है तब तक उसे वहाँ यम के डण्डे के समान एक विशाल अजगर दिखाई दिया। उसने यह भी देखा कि उस तृणपुंज को-जिसके आश्रय से वह लटका हुआ था- श्वेत और काले रंग के दो चूहे सब ओर से इस प्रकार खोद रहे थे कि जिसप्रकार शुक्ल और कृष्ण ये दो पक्ष जीवित (आयु) को खोदते हैं, उसे क्षीण करते हैं। उनके अतिरिक्त उसने वहाँ चार कषायों के समान चारों दिशाओं में आते हुए भयानक चार लम्बे सर्पों को देखा। उधर उस क्रुद्ध हाथी ने आकर कुएँ के किनारे उस स्थित वृक्ष को इस प्रकार वेग से झकझोर दिया जिसप्रकार कि असंयमी जीव अराधनीय संयम को झकझोर देता है। उस वृक्ष के कम्पित होने पर उसके ऊपर छत्तों में स्थित अनेक प्रकार की मधुमक्खियाँ दुःखद वेदनाओं के समान ही मानों सब ओर से विचलित हो उठीं। मर्म को बेधने वाली उन मधुमक्खियों के द्वारा सब ओर से काटने पर वह पथिक महान दुःख का अनुभव करता हुआ ऊपर देखने लगा। उस वृक्ष की ओर देखते हुए उसने जैसे ही अपने मुँह को ऊपर किया वैसे ही उस बेचारे पथिक के होठों के किनारे एक छोटी सी शहद की बूँद आ पड़ी। उस समय यद्यपि उसको नरक वेदना से भी अधिक वेदना हो रही थी तो भी उसने उस वेदना को कुछ न मानकर उस शहद की बूँद के स्वाद में ही अतिशय सुख माना। तब वह मूर्ख उन सब पीड़ाओं का कुछ भी विचार न करके अपने मुख में वह शहद लेता हुआ उसी शहद की बूँद के स्वाद में मग्न हो गया और उसके बार-बार गिरने की अभिलाषा करने लगा।

जैसे इस पथिक के प्रकरण में उसे सुख और दुःख दोनों हैं वैसे ही सुख-दुःख इस आपत्तियों के खान स्वरूप संसार में प्राणी को भी समझने चाहिए।

सांसारिक जीवों के प्रकृत में पाप, पथिक जन के समान प्राणी, हाथी के समान मृत्यु, शरस्तंब (तृण पुंज) के समान आयु, कुँए के समान संसार, अजगर के समान नरक, चूँहों के समान कृष्ण और शुक्लपक्ष, चार सर्पों के समान चार कषाएँ, मधु मक्खियों के समान व्याधियाँ तथा शहद के

छोटे बिन्दू के स्वाद के समान भोग जनित सुख माना गया है। इस प्रकार उस पथिक के सुख-दुःख के समान संसार में परिभ्रमण करने वाले प्राणियों के सुख-दुःख के विभाव को समझना चाहिए।

इस संसार में परिभ्रमण करने वाले प्राणियों के सुख और दुःख के मध्य में वस्तुतः इतना भारी अन्तर है जितना कि सुमेरु पर्वत और सरसों के बीच में है। संसारी प्राणियों का सुख तो सरसों के समान तुच्छ और दुःख तो सुमेरु पर्वत समान महान है।

यह संसार प्रगट में दुःख भरा है। आत्मानुशासन में आचार्य ने एक जगह बताया है कि इस भव के ओर-छोर दो हैं जन्म और मरण। जैसे एक बाँस के ओर-छोर दो हैं। उस बाँस के ओर-छोर में आग लग जाए और उसके बीच में पड़ा हो कोई कीड़ा, तो उस कीड़े के जीव के दुःख का क्या ठिकाना? इसी तरह प्रत्येक भव के ओर-छोर में लगी है जन्म मरण की आग, और उसके बीच में हम आप प्राणी पड़े हुए हैं।

इस संसार में चार गतियाँ हैं- नरक, तिर्यन्च मनुष्य और देव। सो इन गतियों में सिवाय क्लेशों के और कुछ नजर नहीं आता। छहढाला की पंचम ढाल में समागत संसार भावना सम्बन्धी छन्द इसप्रकार है-

चहुँगति दुःख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार असारा, थामें सुख नाहिं लगारा॥

चारों गतियाँ दुःखी जीवों से ही भरी पड़ी हैं। तात्पर्य यह है कि चतुर्गति में भ्रमण करने वाले सभी जीव दुःखी हैं, चारों गतियों में कहीं भी सुख नहीं है।

इस संसार के कष्टों से छुटकारा चाहने वाले पुरुषों को साहस करके एक बार अन्तरंग शुद्ध ज्ञान बनाना ही होगा कि मैं तो बस यहीं ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र हूँ। अब इस संसार से वैराग्य के कारणभूत दुःखों का संक्षेप में वर्णन करता हूँ। नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव इन चारों गतियों में से प्रथम नरकगति में जो जीव को दुःख होता है उसका वर्णन करता हूँ। आचार्य कुमार कार्तिकयानुप्रेक्षा में लिखते हैं-

पाव-उदयेण णरए जायदि जीवो सहेदि बहु-दुक्ख
पंच पयारं विवह अणोवमं अण्ण-दुक्खेहिं ॥३४॥

यह प्राणी पापोदय से नरक में जन्म लेता है और असुर कुमारों के द्वारा दुःख, शारीरिक दुःख, मानसिक दुःख क्षेत्रज दुःख, परस्पर में दिया हुआ दुःख इस प्रकार जीव मुख्यतः ५ प्रकार दुःखों का अनुभव करता है-

(१) असुरोदीरित दुःख - भवनवासी देवों में एक असुरकुमार जाति के भी देव होते हैं। वे बड़े कलह प्रिय होते हैं। उनको जीवों को अधिक से अधिक लड़ाया जाने में आनन्द आता है। नरक में जा करके नारकियों को परस्पर में भिड़ाकर लड़ाई करायी जाय और उसका आनन्द देखा जाय। जैसे यहाँ भी अनेक पुरुष ऐसे होते हैं जो यह देखना चाहते हैं कि दो कुत्ते लड़ें और हम देखें कि वे दोनों किस तरह से एक दूसरे को काट मारकर पछाड़ते हैं। उनको देखने में मजा आता है। बहुत से मनुष्य ऐसे हैं कि जो मुर्गा-मुर्गी की लड़ाई कराते हैं और उस पर जुआ खेलते हैं। दूसरे जीव की चाहे जान चली जाय पर उनको आनन्द मिलना चाहिए। सुना है कि लोग उन मुर्गा-मुर्गी के पैरों में छोटी-छोटी छुरियाँ बाँधकर उन्हें लड़ाते हैं और यह देखकर खुश होते हैं कि मुर्गे ने किसतरह मुर्गी को घायल करके लथ-पथ कर दिया। इस तरह के लोग असुरजाति के देव होते हैं। असुरकुमार देव किसी नारकी में थोड़ा क्रोध कम हुआ या थककर थोड़ा विश्राम लेने बैठा हो तो उन नारकियों को पूर्व भव की अनेक बातें याद दिला-दिला कर उन्हें भिड़ा देते हैं।

(२) शारीरिक दुःख - उनका शरीर महा दुर्गन्धि युक्त है, नरक में नारकी को भूख इतनी अधिक लगती है कि तीन लोक का सब अनाज खा लें तो भी भूख नहीं मिटे, परन्तु वहाँ खाने को एक दाना भी नहीं मिलता। जीव को नरक में ऐसे हजार वर्ष से लेकर तैतीस सागर तक दुःख सहन करना पड़ता है। छह ढाला में दौलतरामजी ने कहा भी है-

तीन लोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय
ये दुःख बहु सागर लौ सहै, करम जोगते नरक गति लहै।

(३) मानसिक दुःख - सारी दुनिया जानती है कि मानसिक दुःख कितना निकृष्ट होता है। किसी व्यक्ति को मानसिक दुःख उत्पन्न हो जाय तो उसका शारीरिक संतुलन भी बिगड़ता है, मस्तिष्क भी स्थिर नहीं रहता है। अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं। इस प्रकार नारकियों का मन निरन्तर-चिन्तित रहता है, दूसरे को नष्ट करने के लिए । वह क्रोध में

जलाभुना रहता है।

(४) क्षेत्रज - वहाँ का क्षेत्र ही दुःखमय है, वहाँ की मिट्टी का कण यहाँ कदाचित् आ जाय ऐसी कल्पना करो। उस कण में इतनी दुर्गन्ध है कि उस दुर्गन्ध के मारे दूर-दूर के जीव मर जायें। वहाँ सारी पृथ्वी ही ऐसी है। यहाँ यदि दीवार में, जमीन पर या फर्श पर बिजली का करन्ट आ जाय तो उस दीवार को छूने से झनझनाहट होती है, कष्ट होता है, वहाँ इसी प्रकार की वेदना है। पंडित दौलतराम क्षेत्रज दुःख का वर्णन करते हुए लिखते हैं :-

तहाँ भूमि परसत दुःख इसो, बिच्छु सहस डसे नहिं तिसो।
तहाँ राध-शोणित वाहिनी, कृमि कुलकलित देह दाहिनी।

नरक की जमीन को छूने से इतना दुःख होता है कि यहाँ हजारों बिच्छू एक साथ काट खावें तो भी इतना दुःख नहीं होगा वहाँ पीप व खून से भरी वैतरणी नदी है जो कीड़ों के समूह से परिपूर्ण है तथा शरीर में दाह (जलन) पैदा करती है। और भी नारकियों के दुःख का वर्णन करते हैं-

सेमर तरू दल जुत असि पत्र, असि ज्यों देह विदारे पत्र।
मेरू समान लोह गल जाय ऐसी शीत उष्णता थाय ॥११॥

नरकों में तलवार की धार के समान तेज पत्तेवाले सेमर के वृक्ष हैं जो तलवार की धार समान शरीर को चीरते हैं, वहाँ ठंड और गर्मी इतनी होती है कि सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला भी गल सकता है।

(५) पारस्परिक दुःख - तीसरे नरक तक के नारकियों को दुःख ज्यादा है और नीचे नरक के नारकियों को थोड़ा विश्राम मिल जायेगा, ऐसी बात नहीं है। ज्यों-ज्यों नीचे नरक हैं उनमें क्षेत्र सम्बन्धी दुःख प्रकृति से बढ़ते रहते हैं। गर्मी तथा सर्दी के नीचे के नरकों में अधिक होती है। उनमें क्षेत्र सम्बन्धी दुःख तो नीचे के नरकों में प्रकृत्या बढ़ते ही रहते हैं। इस तरह उन नरकों में प्रकृत्या महान दुःख है।

नरक में पुराने नारकी आकर नारकी की मुग्दर, मूसल से मार-मार कर चूरा-चूरा कर डालते हैं और ऊपर से नमक मिर्च जैसे तीक्ष्ण पदार्थ उसके शरीर पर डाल देते हैं जिससे पीड़ित होकर वह छटपटाने लगता है, हाय! हाय! विलाप करता है और मूर्च्छित हो भूमि पर जाता है।

एक नारकी दूसरे नारकी के शरीर के तिल तिल मात्र बराबर टुकड़े

कर डालते हैं। "**तिल तिल कर, देह के खण्ड**" और फिर भी वे मरते नहीं हैं। मर जायें तो चलो नरक से निकले, उनके शरीर के टुकड़े पारे की भाँति फिर मिलकर पुनः) शरीर बनजाता है। फिर दुःख सहन करते हैं। वे एक दूसरे के शरीर को भेद डालते हैं। विदीर्ण कर डालते हैं। जैसे कि सिंह अपने पञ्जों में फँसे हिरण के पेट को विदीर्ण कर देता है। उसी प्रकार से नारकी एक दूसरे के शरीर का भेदन-छेदन कर देते हैं। वे किसी को कढ़ाई में पूड़ी की भाँति पकाते हैं। अब उसका अंदाज समझिये- मानो बहुत बड़ी कढ़ाई जिसमें तेल गर्म होता रहे, उसमें यदि किसी पुरुष को डाल दिया जाय तो कितना कठिन होगा? ऐसे क्रूर परिणाम मनुष्य भी कर डालते हैं। आज कल ऐसे मनुष्य हैं जो नारकी समान आचरण करते हैं। ऐसे व्यक्ति नरक में जायेंगे अन्य गति ही नहीं मिलेगी। ऐसे कष्ट (दुःख) नरकों में रोज-रोज ही नारकी जीवों को भोगने पड़ते हैं।

तिर्यंच गति में महान दुःख सहन करने पड़ते हैं। कितने तिर्यंचों का तो गर्भ में ही छेदनादिक होता है। तिर्यंचों में जो क्रूर स्वभाव वाले और बलवान होते हैं, वे अपने से छोटे जीवों को निर्दयतापूर्वक मारकर खा जाते हैं। और की तो बात ही क्या है, इस तिर्यंच गति में भूखी माता भी अपने बच्चों को खा जाती है। इसके अतिरिक्त आकाश में निर्द्वन्द विहार करने वाले पक्षी आदि अकाल ही काल के मुँह में पहुँचते हैं। वर्तमान में कसाईखानों के घाट उतारे जाते हैं तथा उत्पन्न होने से पूर्व ही अण्डों की अवस्था में असंख्य प्राणी समूचे रूप में खा लिये जाते हैं। भूख, प्यास के दुःख/बोझा ढोने का दुःख, नपुंसक करने में महान दुःख, सर्दी गर्मी सहने के दुःख ये जगत के प्रत्यक्ष ही हैं। अभी तक मांसभक्षी पशु मारे जाते थे, परंतु अब तो कोमल चमड़ा प्राप्त करने के लिए गर्भ धारण करने वाले पशु अत्यन्त निर्दयता/क्रूरतापूर्वक मारे जाते हैं। ऐसा करने वाले मनुष्य की अगले भव में यही दशा होगी क्योंकि जैसी करनी वैसी भरनी। सारांश यह है कि इस प्रकार असंख्य दुःख तिर्यंच जीव को सहन एवं भोगने पड़ते हैं। जिन्हें यदि करोड़ों व्यक्ति भी एक साथ कहने को उद्यमी हों तो सहस्रों वर्षों तक करोड़ों जिह्वा से भी नहीं कह सकते। पं. दौलतरामजी ने तिर्यंच गति के दुःख का वर्णन इस प्रकार किया है-

कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो।
सिंहादिक सैनी है क्रूर, निर्बल पशु हति खाये भूर ॥
कबहूँ आप भयों बलहीन, सबलनि करि खायो अति दीन।
छेदन भेदन भूख रू प्यास, भार वाहन, हिम, आतप त्रास ।८।
बध बंधन आदिक दु:ख घने, कोटि जीभते जात न भने।
अति संक्लेश भावते मरयो, घोर अशुभ नरक में परयो ।९।

मनुष्य पर्याय का पाना, मानो बालू के समुद्र में गिरी हुई सरसों बराबर हीरे की कणी को प्राप्त करना है। इस प्रकार अति दुर्लभ मनुष्य भव को पाने के बाद भी अनेकों जीव तो गर्भावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। यदि भाग्योदय से जीवित बाहर निकल भी आया तो बाल्यावस्था में उत्पन्न होने वाले सैंकड़ों रोगों से ग्रस्त होकर जीवन मरण के संशय में झूलता रहता है। तब विद्याभ्यास से वंचित रह गया और खोटी संगति में गया जिससे युवा अवस्था आने पर भी स्त्री आदि भोगों में मस्त रहा, तो कभी जुआ खेलने, माँस खाने, चोरी करने शिकार खेलने आदि दुर्व्यसनों में पड़कर अपना जीवन व्यर्थ कर दिया। धीरे-धीरे वृद्धावस्था आ गई और शारीरिक एवं मानसिक चिन्ताओं से ग्रस्त होकर जर्जरित हो गया तथा क्षीणशक्ति होकर पराधीन हो गया, जहाँ पुत्रादिक भी अवहेलना करने लगते हैं। और भर्त्सना या तिरस्कार करते हैं। जिन पुत्रों को बालपन में बड़े लाड़-प्यार से लालन-पालन कर शादी आदि की थी। वे ही घुड़कियाँ देकर कहने लगते हैं चुप रहो, एक तरफ बैठ जाओ, तुम्हारी बुद्धि जड़ हो गई है, मारी गई है, तुम साठे हो गये। इस वृद्धावस्था में शरीर की क्षीण शक्ति हो जाने से मनुष्य चलने तक में भी असमर्थ हो जाता है, उठना बैठना कठिन हो जाता है, अंग-अंग शिथिल हो जाते हैं। मांस मज्जा सूखकर नस गाल झूल जाते हैं दृष्टि मन्द हो जाती है, दाँत गिर जाते हैं, मुँह में लार बहने लगती है, सुनने में शब्द कम समझ में आते हैं, तृष्णा रागिनी बढ़ जाती है। नाक बहने लगती है, मूत्र बहाव शुरु हो जाता है, कफ गिरने लगता है, श्वास-सदा भरा रहता है, कई गूँगे या बहरे बन जाते हैं। ऐसी अवस्था को कवि ने अर्द्धमृतक बुढ़ापा बताया है। जब मनुष्य पर्याय के जीवों की यह दशा है। तब फिर यह जीव अपनी आत्मा को यथास्वरूप कैसे देख सकता है? अर्थात् कभी नहीं । कहने का सारांश यह है कि जो बचपन से निरन्तर

विद्याभ्यास करता हुआ बालक सद्ज्ञान का उपार्जन करता हुआ, न्यायपूर्वक धन उपार्जन कर सत्कार्य में उसको उपयोग करता हुआ, दान, पूजन, शील, संयम आदि यथाशक्ति पालन करते हुए, रात-दिन संसार देह भोगों से और पुण्य पाप के फल से हर्ष विवाद नहीं करता है और निरन्तर आत्म स्वरूप के चिन्तवन में लगा रहता है, यही मनुष्य जन्म का सार है। अन्यथा जो काल के संस्कारवश आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा में फँसकर न्याय-अन्याय को कुछ नहीं गिनता हुआ अपनी स्वार्थमयी वासनाओं को पूरा करने के लिए दूसरे के धन का अपहरण, झूठ बोलना, पराई स्त्री के साथ दुराचार करना और समय आने पर दूसरों का कंठ काटने से भी नहीं चूकता है। इन कारणों से अपनेपन को भूल जाना कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा, मेरा क्या स्वरूप है, मुझे क्या प्राप्त करना है, इस प्रकार मनुष्य के हृदय में उक्त विचार जब तक जागृत नहीं होते हैं, तब तक यह आत्मा उन्नति की ओर कैसे अग्रसर हो सकती है ? इस प्रकार प्रमादवश मोह निद्रा की लहर में मानव जीवन को यों ही खो देता है। संसार भावना का वर्णन करते हुए पं. भूधरदासजी लिखते हैं।

दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥

इस छन्द में इसी तथ्य को सशक्त रूप से उजागर किया गया है कि सम्पूर्ण जगत को छान मारा, पर संयोगों में कहीं सुख दिखाई नहीं दिया। यदि निर्धन धन के अभाव में दुःखी है तो धनवान भी कहाँ सुखी है? वे भी तो तृष्णावश होकर दुःखी ही दिखाई देते हैं।

इस संसार की स्थिति कितनी करूणाजनक है। पुत्र भी भाई होता है। वह भाई भी देवर होता है। माता सौत होती है। पिता भी पति होता है। जब एक जीव के एक ही भव में अनेक नाते होते हैं, तो धर्मरहित जीवों के दूसरे भव में कहना ही क्या है? जैन शास्त्रों में अठारह नाते की कथा प्रसिद्ध है। उसी कथा के प्रमुख नायक धनदेव और नायिका वसन्ततिलका वेश्या तथा उसकी पुत्री कमला के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर उक्त बात कही गई है। कथा इस प्रकार है :-

मालव देश की उज्जयिनी नगरी में राजा विश्वसेन के समय में, सेठ सुदत्त ने वसन्ततिलका वेश्या को अपने घर में रख लिया। वह गर्भवती हुई

और खाज, खाँसी श्वास आदि रोगों ने उसे घेर लिया। तब सेठ ने उसे अपने घर से निकाल दिया। अपने घर में आकर वसन्ततिलका ने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। खिन्न होकर उसने रत्न कम्बल में लपेट कर कमला नामकी पुत्री को तो दक्षिण ओर की गली में डाल दिया। उसे प्रयागवासी व्यापारी सुकेत ले गया और उसे अपनी सुव्रत नाम की पत्नी को सौंप दिया। पूर्वजन्म में उपार्जित पाप कर्म के उदयसे धनदेव पुत्र और कमला का आपस में विवाह हो गया। एक बार धनदेव व्यापार के लिए उज्जयिनी गया वहाँ वसन्ततिलका वेश्या से उसका सम्बन्ध हो गया। दोनों के सम्बन्ध से वरुण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार कमला ने श्री मुनिदत्त से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त पूछा। श्री मुनिदत्त ने सब सम्बन्ध बतलाया जो इसप्रकार है :-

उज्जयिनी में सोमशर्मा नामक ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम काश्यपी था। उन दोनों के अग्निभूति और सोमभूति नामक दो पुत्र थे। वे दोनों परदेश से विद्याध्यन करके लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने जिनमति आर्यिका को अपने पुत्र जिनदत्त मुनि से और सुभद्रा आर्यिका को अपने श्वसुर जिनभद्र मुनि से कुशल क्षेम पूछते हुए देखा। इस पर दोनों भाइयों ने उपहास किया "जवान की स्त्री बूढ़ी और बूढे की स्त्री जवान, विधाता ने अच्छा उलट फेर किया है" कुछ समय पश्चात अपने उपार्जित कर्मों के अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर उज्जैनी में ही वसन्तसेना की पुत्री वसन्ततिलका हुई और अग्निभूति तथा सोमभूति दोनों मरकर उसके धनदेव और कमला नाम के पुत्र और पुत्री हुए। ब्राह्मण की पत्नी व्यभिचारिणी काश्यपी मरकर धनदेव के सम्बन्ध से वसन्ततिलका के वरुण नामक पुत्र हुआ। इस कथा को सुनकर कमला को जातिस्मरण हो गया। उसने मुनिराज से अणुव्रत ग्रहण किये और उज्जयिनी जाकर वसन्ततिलका के घर में घुसकर पालने में पड़े वरुण को झुलाने लगी और उससे कहने लगी (१) मेरे पति के पुत्र होने से तुम मेरे पुत्र हो, (२) मेरे भाई धनदेव के पौत्र होने से तुम मेरे भतीजे हो (३) तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, अतः तुम मेरे भाई हो (४) धनदेव मेरी माता वसन्ततिलका का पति है, इसलिए धनदेव मेरा पिता है। उसके भाई होने से तुम मेरे काका हो, (५) मैं वैश्या वसन्ततिलका की सौत हूँ। अतः धनदेव मेरा पुत्र है। तुम उसके भी पुत्र हो,

अतः तुम मेरे पौत्र हो। ये छः नाते बच्चे के साथ हुये। आगे-(१) वसन्ततिलका का पति होने से धनदेव मेरा पिता है, (२) तुम मेरे काका हो और धनदेव तुम्हारा भी पिता है, अतः वह मेरा दादा है, वह मेरा पति भी है, उसकी और मेरी माता एक ही है। अतः धनदेव मेरा भाई है। (४) धनदेव के छोटे होने से तुम मेरे देवर हो। मैं वेश्या वसन्ततिलका की सौत हूँ और उस वेश्या का वह पुत्र है, अतः मेरा भी पुत्र है। वेश्या मेरी सास है। मैं उसकी पुत्रवधू हूँ और धनदेव वैश्या का पति है, अतः वह मेरा श्वसुर है। ये छः नाते धनदेव के साथ हुए। आगे (१) मेरे भाई धनदेव की पत्नी होने से वेश्या मेरी भावज है, (२) तेरे और मेरे दोनों के धनदेव पिता है और वेश्या उनकी माता है, अतः वह मेरी दादी है, (३) धनदेव की और तेरी भी माता होने से वह मेरी माता है, (४) मेरे पति धनदेव की भार्या होने से वह मेरी सौत है, (५) धनदेव मेरी सौत का पुत्र होने से वह मेरा भी पुत्र कहलाया। उसकी पत्नी होने से वह वेश्या मेरी पुत्रवधू है, (६) मैं धनदेव की स्त्री हूँ और वह उसकी माता है अतः मेरी सास है। इन अठारह नातों को सुनकर वेश्या धनदेव आदि को भी सब बातें ज्ञान हो जाने से जाति स्मरण हो आया। सभी ने जिनदीक्षा ले ली और मरकर स्वर्ग चले गये इस प्रकार एक ही भव में अट्ठारह नाते तक हो जाते हैं, तो दूसरे भव की कथा ही क्या है?

इस संसार में सब कुछ कर्म का खेल हैं। ये १८ नाते भी कर्मोदय से ही बने हैं और शुभ कर्म का उदय होने से शत्रु भी मित्र हो जाता है। जैसे रावण का भाई विभीषण रामचन्द्रजी का मित्र बन गया था और अशुभ कर्म का उदय होने से मित्र शत्रु हो जाता है जैसे विभीषण अपने सहोदर रावण का ही शत्रु बन गया था। संसार का यही नग्न स्वरूप है।

जो देवगति में उत्पन्न होते हैं उस जीव की देव संज्ञा (नाम) है। वह भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक के भेद से चार प्रकार के देव होते हैं। तहाँ रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग या पंकभाग में स्थित भवनों में रहने वाले देवों को भवनवासी कहते हैं। इनके असुर कुमार आदि १० भेद हैं। सोलह वर्ष की आयु वाले नव यौवनन्त कुमारों के समान सदा हास्य कौतूहल आदि में मस्त रहते हैं, इसलिए उनकी कुमार संज्ञा है। वह पर्वत नदी, वन खंड, वृक्ष गुफा, समुद्र पहाड़ों, आदि विविध स्थानों में रहते हैं, उन्हें व्यन्तर देव कहते हैं। ये ही देव मनुष्य स्त्री आदि के शरीर में प्रवेश कर

नाना प्रकार के कौतूहल किया करते हैं। जिनके ज्योतिर्मय विमानों के कारण इस भूमंडल पर प्रकाश फैलता और पहुँचता है जिनसे दिन रातादि काल का विभाग होता है उन्हें ज्योतिषदेव कहते हैं। ये ही तीनों प्रकार के देव भवनत्रिक कहलाते हैं। इनमें मिथ्यादृष्टि मनुष्य व तिर्यंच ही उत्पाद शिला पर जन्म लेते हैं, यद्यपि श्रुत में भवनवासी आदि देवों में उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न बतालये गये हैं परन्तु सामान्य रूप से अकाम निर्जरा तीनों प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारण हैं। यहाँ उसी एक पक्ष का उल्लेख किया है। अपनी इच्छा के बिना केवल पराधीनता से भोग-उपभोग का निरोध होने से तथा तीव्र कषाय रहित होकर भूख-प्यास, मारन-ताड़न, छेदन-भेदन त्रास या प्राणघात हो जाने से कर्मों की निर्जरा होती है उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। भवनत्रिक में उत्पन्न होने के कारण जो ज्ञान और चरित्र को धारण करते हुये भी मिथ्यात्व न छूटने के कारण धर्म पालने में शंकाभाव बर्तते हैं, तब संक्लेश भाव से युक्त होकर व्रत उपवास आदि करते हैं तथा स्त्री के वियोग से संतप्त होते हुए भी जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, ऐसे जीव भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। जो मनुष्य हास्यादि के वशीभूत होकर असत्य संभाषण में अनुरक्त रहते हैं, सदा दूसरों की नकल किया करते हैं, परिहास्य करते डरते नहीं है, ऐसे जीव कंदर्प जाति के भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। जो मनुष्य मंत्र-तंत्र योग करते हैं, नाना प्रकार के कौतूहल-नाटक चेटक में लगे रहते हैं, दुनिया की खुशामद में लगे रहते हैं, वह वाहन जाति के भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। जो मानव तीर्थंकर या चार प्रकार के संघ की महिमा, पूजा, यात्रा पंच कल्याणक महोत्सव, मन्दिर, वेदी प्रतिष्ठा आगम के प्रतिकूल आचरण करते हैं वह दुर्विनयी मायाचारी होते हैं उनको यदि भाग्यवश देवायु का बंध ही जाय तो वे किल्विषक के देवों में उत्पन्न होते हैं। जो जीव क्रोध, मान, माया और लोभ में आसक्त हैं और चरित्र धारण करते हुए भी निर्दय भाव से युक्त हैं वे असुर कुमार देवों में उत्पन्न होते हैं। तथा जो जीव जीवन पर्यन्त सद्ध को धारण करके भी मरण के समय उसकी विराधना कर देते हैं और समाधि के बिना मरण को प्राप्त होते हैं, वे कन्दर्प अभियोग्य, सरमहि आदि नाना प्रकार के निकृष्ट देव दुर्गति भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। तथा जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी मंद कषाय से युक्त होकर गाने-बजाने में लगे

रहते हैं, लोगों के मनोरंजन के लिए बहुरूपियों का वेष धारण करते हैं। उनको यदि भाग्यवश देवायु का बन्ध हो जाय तो वे व्यन्तर जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं। घर के क्लेशों से ऊबकर कूप, नदीं में गिरकर या अग्नि में प्रवेशकर, फाँसी लगाकर मरने वाले भी प्रायः व्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं और पंचाग्नि का तपना, पहाड़ की चोटियों पर ध्यान लगाना, शरीर में भस्म लगाकर साधु-महन्तपने को प्रकट करना, जटा-जूट धारण कर मल परिषह को सहन करना, लोगों में मान प्रतिष्ठा के लिए नाना प्रकार के आसन लगाकर ध्यान करने का स्वांग रचना, घी, दूध, दही आदि का त्याग केवल पूजा सत्कार पाने के लिए करना इत्यादि कारण विशेषों से मिथ्यादृष्टि जीव ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भवनत्रिक में उत्पन्न होने वाले सर्वदेवों के समस्त भोग-उपभोग समस्त सामग्री पंचेन्द्रियों से तृप्ति कारण उपलब्ध रहती है तथापि मिथ्यात्व कर्म के उदय तीव्र होने से अपने अधिक विभूतिवाले देवों को देखकर उनके हृदय में ईर्ष्या की अग्नि सदा जलती रहती है और इस संपदा को प्राप्त करने के लिए अनेक संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। उन्हें अपने पुण्योदय से प्राप्त भोगों में संतोष नहीं रहता। इस कारण से सदा आकुलता रूप महान मानसिक दुःख अनुभव करते रहते हैं और अपनी अपनी आयु को पूरी कर के नीच गति को प्राप्त करते हैं। विमान वासी स्वर्गों के देवों की यद्यपि भवनत्रिक के समान ईर्ष्या-भावना नहीं होती और वे उनकी अपेक्षा बहुत अधिक सुखी भी होते हैं। तथापि सम्यग्दर्शन रत्न बिना अपनी प्रियतमा देवियों के वियोग में वे अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं। इसके अतिरिक्त देवों की आयु जब छः माह शेष रह जाती है, तब उनके गले में पड़ी हुई रत्नों की माला, चेहरे की हीनता में मुरझाई हुई दिखाई देती है और वस्त्राभूषण कान्तिहीन हो जाते हैं। वे देव यह देखकर एकदम आश्चर्य से स्तम्भित रह जाते हैं और फिर अवधि ज्ञान से उन्हें यह ज्ञात होता है कि हमारी देव पर्याप्य में सिर्फ छह माह आयु शेष रह गयी है, तभी मिथ्यादृष्टि देव को अत्यन्त विकल्प होते हैं और नाना प्रकार के विलाप करते हैं। उस समय उनके परिवार के तथा अन्य देव आकर समझाते हैं और उसके दुःख दूर करने की भरपूर चेष्टा करते हैं। परन्तु मिथ्यात्व मोहित मति होने के कारण उसकी समझ में कुछ

नहीं आता और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों वह अधिक विलाप करता हुआ कहता है कि हाय कृमि कुल से भरे हुए मल रुधिर आदि से व्याप्त अत्यन्त दुर्गन्धित गर्भ में नव माह तक कैसे रहूँगा ? मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किसकी शरण लूँ, हाय! मेरा कोई ऐसा बन्ध नहीं है जो मुझे गिरने से बचा सके। इन्द्र महाराज वज्र के आयुध को धारण करने वाले, ऐरावत हाथी की सवारी करने वाले, देवों के स्वामी भी जिनकी जीवन भर सेवा की है, मुझे बचाने के लिए वे भी समर्थ नहीं है तो और की क्या बात। इस तरह नाना प्रकार विलाप करता हुआ वह कहता है कि यहाँ से मेरा मरण होता है तो भले ही हो परन्तु मनुष्यों तिर्यंचों के उस नरक वास के तुल्य गर्भवास में निवास न करना पड़े, भले ही मेरी उत्पत्ति एकेन्द्रियों में हो जाये। यह विचार जब बहुत समय तक हृदय गर्भ में चलते हैं हिलारें मारते हैं, तब वह एकेन्द्रियों की आयु बंध कर लेता है और वर्तमान पर्याय की आयु के पूरा हो जाने पर मरकर निदान के वश से एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो जाता है क्योंकि भवनत्रिक और दूसरे स्वर्ग तक के मिथ्यादृष्टि देव मरकर एकेन्द्रिय में उत्पन्न न हो सकते हैं। अतः देवगति में सच्चा सुख नहीं है। पंच परिवर्तन में कहीं भी सुख नहीं है। हर जगह दुःख दुःख है। पं. मंगतरायजी ने चर्तुगति के दुःख का इस प्रकार वर्णन किया है।

जनम मरण अरू जरा रोग से सदा दुःखी रहता।
द्रव्य क्षेत्र अरूकाल भाव भव परिवर्तन सहता।
छेदन भेदन नरक पशुगति वध बंधन सहना।
राग उदय से दुःख सुरगति में कहाँ सुखी रहना।
भोगि पुण्य फल हो एकइन्द्री क्या इसमें लाली।
कुतवाली दिन चार वही फिर खुरपा अरु जाली।
मानुष जन्म अनेक विपत्तिमय कहीं न सुख देखा।
पंचम गति सुख मिले शुभाशुभ को मेटो लेखा ॥८॥

भव्य जीव संसार के दुःखमयी स्वरुप का चिन्तवन कर के आत्मसम्मुख हो आत्मा का आनन्द प्राप्त करें, इस पवित्र भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ। ॐ नमः।

4 एकत्वानुप्रेक्षा

जीव का अकेलापना

4 एकत्वानुप्रेक्षा

अनित्य, अशरण व संसार भावना में चिन्तन क्षणभंगुरता, अशरणता व निरर्थकता तथा स्व-स्वभाव की नित्यता, शरण भूतता एवं सार्थकता स्पष्ट हो जाने पर भी ज्ञानी-अज्ञानी सभी को अपनी-अपनी भूमिकानुसार (कर्मानुसार) सुख-दुःख मिल-जुलकर भोग लेने का विकल्प थोड़ा बहुत बना ही रहता है, जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए ही एकत्व और अन्यत्वभावना का चिन्तवन किया जाता है।

यह जीव अपने स्वरूप में अपने आप अकेला ही है। विश्व में समस्त पदार्थ अपने-अपने अकेले का ही स्वरूप रखते हैं। निज को निज, पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निशान। अपने आपके वास्तविक स्वरूप

को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति बने, इससे भिन्न सब कुछ पर है ऐसा विश्वास बने तब ही दुःख का कारण नहीं रह सकता है और जीव शान्त रह सकता है। यह जीव विकल्पों से क्यों घिरा हुआ है। उसका कारण यह है कि अपने आपकी यथार्थ पहचान में इसकी दृष्टि नहीं और पर को जान पाता नहीं, तब ज्ञानानन्द स्वभावी तो यह है ही। तो अपने ज्ञान और आनन्द की बात तो चाहेगी ही, पर यह न जानने से कि मैं स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, चाह लेता है पर से कि इससे मेरा ज्ञान बढ़े और इससे मेरा आनन्द हो। इस जीव की ऐसी इच्छा बनी और यह प्रयोग अपने ज्ञान समुद्र से निकल कर बाहर हो गया। जिस उपयोग ने अपने आधार की शरण छोड़ दी। अब वह उपयोग बाहर निराधार रहता हुआ डोला करता है। उसका कहीं दूसरी जगह ठिकाना नहीं बैठ सकता। इस उपयोग का ठिकाना खुद का आधार ही है। जहाँ यह जाय, वहाँ एक रस होकर रहे तो वहाँ ही इस जीव का उपयोग निस्तरंग रह सकता है, इसको विश्राम मिल सकता है। ऐसा किए बिना बाहरी पदार्थों के सम्पर्क में चाहे कितना ही बाह्य वैभव मिले वहाँ शान्त ही रहेगा। इसे अपने एकत्व स्वरूप का जानना अति आवश्यक है। जीव का बड़प्पन ही इसी में है कि वह अपने एक स्वरूप को जान ले और इस प्रकार से बड़े हुआ तो क्या हुआ? कोई सरकारी व्यक्ति बड़ा ओहदे को प्राप्त कर ले तो क्या हुआ, धन-वैभव में भी कोई बड़ा हो गया तो क्या हुआ। किसी प्रकार से बहुत सी विद्याएँ सीख लीं, बहुत प्रकार के एम.ए. पी.एच.डी. आदि हो गये तो उससे भी क्या हुआ? और किस्म से भी बड़े हो गए तो क्या हुआ? पर अपने आपमें एकत्व स्वरूप का परिचय न पा सका तो वह ऐसा महल है, जिसमें रंचमात्र भी नींव नहीं है, उसका टिकाव कैसे हो सकता है? अपना बड़प्पन है तो एकत्व स्वरूप का परिचय होने के कारण है अन्यथा हम कुछ भी बड़े नहीं हैं। इन बाहरी बातों का क्या विश्वास? राजा भी मर कर कीड़ा बन जाता है, कुत्ता भी मरकर देव बन जाता है। और इसी भव में कोई बहुत बड़े ओहदे पर पहुँच गया और कहीं एक दम गिर जाता है। कोई बड़ा अधिक धनी हो और कोई थोड़े ही दिनों में गरीब हो जाय? तो इन बाहरी बातों के बड़प्पन में कुछ नहीं है। बड़प्पन तो है अपने आपके

स्वरूप का परिचय पाने में। कितना स्वाधीन अलौकिक भण्डार है स्वरूप परिचय नाम का कि जब भी अशान्त हुए आँखें मिची, इन्द्रियों का व्यापार बन्द किया, भीतर अपने आप में ज्ञान मात्र निहार लो, सारे संकट टल गये तत्काल और कर्म निर्जरा हुई। भविष्य में भी शान्ति का मार्ग मिला। तब यह निश्चय कीजिए अपने आपके सहज स्वरूप का परिचय पा लेना ही एक मात्र वैभव है, अन्य कुछ नहीं। जो एकत्व की भावना में आयेगा वह अपना समय सफल कर लेगा और जो पर की दृष्टि करके अर्थात्- मैं इतने बच्चे वाला हूँ, ऐसी पार्टी वाला हूँ, ऐसे मित्रों वाला हूँ, इन बाहरी बातों से अपने आपका कुछ दोहरा संयुक्त कुछ मोटा सा मानेंगे कि मैं अब इकहरा कहाँ रहा, अकेला कहाँ रहा? मेरे साथ तो बड़ा वैभव है, बहुत लोग हैं जो इस तरह की बुद्धि रखेगा वह अपना जीवन व्यर्थ खो रहा है। समय तो यों निकल रहा है जैसे किसी पर्वत से निकलने वाली नदी का वेग चलता ही जा रहा है। समय यों निकल रहा है नीचे को उसके ऊपर उठने का काम नहीं। इसी प्रकार जो आयु गुजर रही है तो वह तो गुजर रही है उस आयु का वापिस होने का काम नहीं है। थोड़े समय के लिए यह मनुष्य जीवन मिला है। इस जीवन की सफलता इसी में है कि अपने आपके उस सही स्वरूप को जाने जो मेरे में मेरे सत्त्व के कारण स्वयं अपने आप है। वह एक ज्ञान ज्योति मात्र है। ऐसे में मैं अकेला हूँ। अब इस एक अकेले में जो भ्रम लगा हुआ है, उस भ्रम के कारण इस जीवन के नाना रूप हो रहे हैं। इस जीव की नाना पर्यायें बन रही हैं, इसके विकल्पों के भी नाना रूप बन रहे हैं।

एकत्व भावना का स्वरूप स्पष्ट करने वाला निम्नांकित छन्द दृष्टव्य है।

एकाकी चेतन सदा, फिरे सकल संसार।
साथी जीव न दूसरों, यहु एकत्व विचार ॥

इस छंद में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि सम्पूर्ण संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव प्रत्येक परिस्थिति में सदा अकेला ही रहता है, कोई दूसरा साथी नहीं होता- यह विचार करना ही एकत्व भावना है। एकत्व भावना का स्वरूप पंडित भूधरदासजी ने इस प्रकार कहा है-

''आप अकेला अवतरे मरे अकेला होय।
यों कबहूँ या जीव को, साथी सगा न कोय।''

इस छंद में जन्म और मरण में अकेलापन बताकर मात्र जन्म और मरण में ही अकेलापन नहीं बताया है, अपितु जन्म से लेकर मरण तक की प्रत्येक परिस्थिति में अकेलापन दर्शाया है। एक बात और भी कही कि इस दुःखमय संसार में कहने के साथी तो बहुत मिल जायेंगे, पर सगा साथी-वास्तविक साथी कोई नहीं होता क्योंकि वस्तु स्थिति के अनुसार कोई किसी का साथ दे ही नहीं सकता।

इसी तथ्य को निम्नांकित छंद में कविवर मंगतरायजी ने बारह भावना में बड़े ही मार्मिक ढंग से उभारा है।

''जन्में मरे अकेला चेतन सुख दुःख का भोगी।
और किसी का क्या इक दिन यह देह जुदी होगी॥
कमला चलत न पैंड जाय मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुख को रोवें पिता पुत्र दारा॥
ज्यों मेले में पंथी जन मिलि नेह फिरें धरते।
ज्यों तरूवर पै रैन बसेरा पंछी आ करते॥
कोस कोई दो कोस उड़-उड़ फिर थक हारे।
जाय अकेला हंस संग में कोई न पर मारे॥''

यह जीव अकेला ही मानसिक दुःख सहता है, अकेला ही मरण करता है, अकेला ही दुःख सहता है। नरक में जन्म लेने के बाद वह नारकी सोचता है कि जिस कुटुम्ब के कारण जिनके लिए मैंने पाप किया अब उनमें से कोई भी यहाँ साथी नजर नहीं आता। सारा दुःख अकेले वह सहन करता है। इस स्वार्थमय संसार की स्थिति को लिखते हुए एक दृष्टांत याद आ रहा है। वह दृष्टान्त इस प्रकार हैः-

एक दिन एक साधु यह कहता हुआ जा रहा था कि ''संसार झूठा है भाई, संसार झूठा हैः इसमें कुछ भी सार नहीं है। साधु के ये वाक्य सेठ के सुखी पुत्र ने भी सुने, उसको साधु के वचन निस्सार प्रतीत हुए, उसने सोचा कि प्रत्येक जीव इस संसार को अपने दृष्टिकोण से देखता है। साधु के पास

कुछ सुख के साधन नहीं हैं। भीख माँगकर अपना जीवन निर्वाह करता है। इसी कारण उसके प्रियजन भी नहीं हैं, अतः साधु को यह सुखमय रंगीला संसार निस्सार दिखाई पड़ता है। फिर भी सेठ के पुत्र के हृदय में साधु के वाक्य अंकित्न हो गये, भुलाये उनको वह भूल नहीं सका। अतः बार-बार सोचता था कि साधु ऊँचे स्वर से उस वाक्य को दोहराता हुआ निकला, दूसरे दिन भी सेठ के पुत्र ने साधु की वही आवाज सुनी, यद्यपि उस दिन भी उस साधु की बातों पर विश्वास न हुआ, क्योंकि उसके चारों ओर सागर लहरें मार रहा था, परन्तु फिर भी उसका हृदय साधु की ओर आकर्षित हुआ। चित्त में साधु की बातों को कुछ गहराई में उतारकर जानने की इच्छा हुई।

वह नित्य-नियम से निपटकर, घर के आवश्यक कामों को कर दुकान पर गया, वहाँ भी व्यापारिक कार्यों की देख-भाल की, मुनीमों और नौकरों को आवश्यक बातें बतलाई और दुकान से अवकाश निकालकर बड़ी उत्सुकता के साथ उस साधु की कुटिया पर जा पहुँचा। वहाँ पर उसने देखा कि साधु अपनी भिक्षा में मिले हुए रूखे-सूखे भोजन को खाकर बड़ी निश्चिन्तता के साथ पैर फैलाकर आराम से सो रहा है। यह देखकर उसके हृदय का कुछ भ्रम दूर हुआ कि यह साधु अपनी दरिद्रता के कारण संसार को झूठा कहता है क्योंकि निश्चिन्त वृत्ति को देखकर उसे प्रतीत हुआ कि साधु अपनी इस परिस्थिति में अपने आपको सुखी अनुभव कर रहा है। साधु ने सेठ के पुत्र को देखा तदनन्तर लेटे-लेटे साधु ने पूछा कि बेटा तू यहाँ किस कार्य के लिए आया है? सेठ के पुत्र ने नम्रता के साथ साधु से कहा कि महाराज! आप नगर में भिक्षा माँगते समय अलख जगाते हुए संसार को झूठा और निस्सार होने की बात कहते हैं वह मुझे सत्य प्रतीत नहीं होती। इसके विषय में आपसे सन्तोषजनक समाधान चाहता हूँ- साधु उठकर बैठ गया और मीठी वाणी में बोला, "बच्चा! अपने प्रश्न का समाधान तो तू स्वयं अपने अनुभव से करेगा, मेरा कहना तो कुछ समाधान का मार्ग दिखायेगा" सेठ के पुत्र ने कहा कि वह मार्ग ही दिखा दीजिए। तब साधु बोला कि यह ठीक है. आज तेरे पास यह सोना चाँदी है जिसको तू धन समझ रहा है

किन्तु हो सकता है कि उसे चोर डाकू लुटेरे ले जायें। अग्नि इसे भस्म कर दे या व्यापार में घाटा आ जाने से तेरे पास एक कौड़ी भी न रहे। उस समय तेरा यह सुख का सागर क्षण भर में गर्मियों में छोटे तालाब की तरह सूख जायेगा। उस समय संसार झूठा होगा या सच्चा? सेठ के पुत्र ने दीर्घ निःश्वास लेते हुए कहा कि ठीक है महाराज! मैं जिसे समझता हूँ वह नष्ट हो सकता है, परन्तु मेरा सुख सागर कैसे सूख सकता है। प्रियजन तो मेरे सब तरह सहायक हैं। साधु हँसते हुए बोला, ''भोले बच्चे, तू क्या ऐसा ही हरा-भरा बना रहेगा? अपने प्रियजनों के प्रेम को तू जो समझ रहा है उनके प्रेम की परीक्षा ले। सेठ के पुत्र ने विस्मय और कौतूहल से पूछा कि महाराज! किस विधि से उनके प्रेम की परीक्षा लूँ? साधु ने मुस्कुराते हुए उसे सांस रोकने की तथा अपने शरीर को मृतकवत बना लेने की विधि बताई और कहा कि कल प्रातः तू अपने आपको इस विधि के अनुसार मुर्दे के समान बना लेना, फिर तुझे अपने माता,पिता, पत्नी,मित्र आदि के अथाह प्रेम की परीक्षा हो जायेगी। तेरे प्रश्न का समाधान तेरे सामने खड़ा होगा। यदि ठीक से परीक्षा करना चाहता है तो यह बात अपने तक ही रखना, अपनी स्त्री को भी न कहना।

सेठ के पुत्र ने भी मुस्कुराते हुए विश्वास के साथ साधु की बात स्वीकार की और वैसा करने के लिए कह कर अपने घर चला आया।

दिन के सारे कार्य करके रात्रि को प्रतिदिन की तरह आराम से सोया, परन्तु प्रभात होने की उत्सुकता उसे बनी रही। प्रभात होते ही वह शैय्या से उठा और उसने माता से कहा कि माँ मुझे रात को बहुत बुरा स्वप्न आया है इतना कहकर वह यह कहते हुए जमीन पर लेट गया कि मेरा हृदय घबड़ा रहा है, इतना कहते-कहते साधु द्वारा बताई गई विधि के अनुसार वह एकदम सांस रोक कर अकड़ गया, मुर्दा जैसा बन गया।

उसकी माँ ने अपने पुत्र की मुर्दे जैसी हालत देखी तो वह घबड़ायी और रोने लगी, अपनी सास का रोना सुनकर उसकी बहू भी आ गई, पिता भी आ गया और क्षणभर में उसके सारे मित्र भी वहाँ एकत्रित हो गए। सभी ने उसकी सच्ची मृत्यु समझकर जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया।

वह साधु भी नियत समय पर अलख जगाता हुआ उधर आ निकला। सेठ के घर में जोर-जोर से रोने का शब्द सुनकर साधु ने सारा मामला भांप लिया और सेठ के घर में भीतर जा पहुँचा । रोने वाले लोगों से पूछा कि भाई क्या बात है? लड़के के मित्रों ने सेठ के पुत्र की ओर संकेत करके कहा कि हमारा प्राण प्यारा मित्र मर गया है। साधु को वहाँ देखकर उस युवक के माता-पिता तथा उपस्थित मित्र और जोर से रोने लगे और रोते-रोते कहने लगे कि तेरी जगह हम मर जाते तो अच्छा था।

साधु उस लड़के के पास बैठ गया और उसको देखकर रोने वालों से बोला कि ठहरो। रोना बन्द करो, मैं इसे जीवित करता हूँ। साधु की बात सुनते ही सब चुप हो गये। साधु ने एक गिलास में से भस्म डालकर उन सब रोने वालों से कहा कि अब तुम में कोई भी एक व्यक्ति इस पानी को पी लो। जो जल को पी लेगा वह मर जायेगा और सेठ का पुत्र जीवित हो जायेगा।

साधु की बात सुनकर सब स्तब्ध हो गये। किसी के मुख से स्वीकार का शब्द न निकला। तब साधु ने उसके माता-पिता से पूछा कि तुम दोनों में एक व्यक्ति अपने प्राण देकर अपने प्राण प्यारे पुत्र बचा को लो, दोनों बूढ़े हो चुके हो, दोनों ने गिड़गिड़ाते हुये कहा कि महाराज! पुत्र तो और भी आ जायेगा, पर गये प्राण तो नहीं आ सकते। तब साधु ने उसकी पत्नी से जल पी लेने को कहा। पत्नी बोली, "महाराज अभी मैंने संसार में कुछ नहीं देखा, आप मरा तो जग सूना, अपना वैधव्य जैसे तैसे काट लूँगी।" तब साधु ने उसके मित्रों से पूछा। वे बोले कि महाराज! हम अपने घरवालों से पूछकर जल पी सकते हैं, तब साधु ने कहा, अच्छा जल को मैं पी लूँ। साधू की बात सुनकर सब एक साथ बोल उठे, हाँ महाराज, "आप पी लीजिए, वैसे भी साधू जीवन परोपकार के लिए रहता है। आपका हम पर अति उपकार होगा।

तब साधू ने मुस्कुराते हुए वह जल पी लिया और उस बनावटी मृतक सेठ के पुत्र को हाथ का सहारा देकर कहा कि बच्चा उठ! साधु की बात सुनते ही सेठ का पुत्र मुस्कुराते हुए उठ बैठा और साधु से बोला, "महाराज!

आपका कहना सत्य है।''

स्वार्थमय संसार यथार्थ में असार है। ऐसा स्वयं जानकर ऐसा ही अपने आपका स्वरूप समझकर इस संसार को छोड़ने का प्रयत्न करें। अपने एकत्व स्वरूप को निहारें और आनन्दमय हों। आनन्द अन्यत्र नहीं मिलेगा। कितनी ही व्याधियाँ आयी हों, कितनी ही उलझनें आदि हों, उनको एक ज्ञान प्रकाश से तुरन्त सुलझा देंगे और सुलझाना भी क्या यथार्थ जाननहार देखनहार हो सकता है। बाह्य पर्याय में, किन्तु कुछ सुधार बिगाड़ अनुकूल प्रतिकूल बना देने का नहीं हो सकता। अधिकृत बात पर अधिकार जमाना यही क्लेश है। जो अधिकृत बात है, वह हमारे आधीन नहीं है उस पर अपना अधिकार रखना यह अपनी अशान्ति के लिए है। यहाँ दूसरे के घर पर कोई अधिकार जमाने चले तो क्या उस पर डण्डे न लगेंगे? वह अपना अधिकार नहीं जमा सकता। ऐसा ही समझिये कि यहाँ पर जिस घर पर अधिकार जमाना चाहते हैं, जिस घर में रहते हैं वह घर पर का है। जिस कुटुम्ब में रहते हैं वह पर है, जिस ढंग में रहते हैं वह पर है, उसमें जब हम जब विकल्प लगाते हैं, अपना अधिकार जमाना चाहते हैं, कुछ परिणमन करना चाहते हैं तो उनका यह अनाधिकृत बात पर अधिकार जमाने की बात नहीं है क्या? इसमें शांति मार्ग न मिलेगा। ज्ञाता दृष्टा रहने से ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

अहो, यहाँ मेरा पहचानने वाला कोई है भी नहीं। ज्ञानमय ज्ञान मात्र, सब सोचे अपने अपन में, मैं ज्ञान स्वरूप, ज्ञान मात्र, आकाशवत्, अमूर्तिक, निर्लेप, निर्दोष, बन्धन में न आ सकने वाला हूँ। जिसका स्वरूप समान है, प्रभुवत है और वह फिर भी विडम्बना में पड़ जाता है? माया की माया से पहचान हो रही है। जिसका लोग सम्मान करते हैं वह मैं नहीं हूँ। वह जड़ अचेतन शरीर का सम्मान हो रहा है। विचार करके हमें आत्मान्मुख होना चाहिए। यह जीव सर्वत्र अकेला है, ऐसे चिन्तन से ही इस जीव को शांति मिल सकती है। अज्ञानी जीव तो मैं अकेला रह गया ऐसा सोचकर दुःखी रहते हैं, और ज्ञानी जीव जब एकत्व स्वरूप को निहारता है, मैं ज्ञानमात्र ही हूँ, मेरा सत्व मैं ही हूँ, मेरा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य मेरे में ही है। मुझ से बाहर

कहीं कुछ नहीं है। सबको अपने बल पर खड़ा होना होगा। किसी की आशा करना व्यर्थ है। शांतिकाल में दूसरे सहायक नहीं होते। यह जीव जब अशुभ-शुभ परिणाम से अकेला है तथा पाप और पुण्य कर्म का संचय करता है, घर में अनेक कुटुम्बीजन हैं किन्तु परिणाम से सभी के पुण्य व पाप कर्म भिन्न-भिन्न हैं।

जीव अकेला उत्पन्न होता है अकेला ही माता के उदर में शरीर को ग्रहण करता है, अकेला ही बालक होता है, अकेला ही जवान होता है और अकेला ही बूढ़ा होता हैअकेला ही रोगी होता है, अकेला ही शोक करता है, अकेला ही मानसिक संताप प्राप्त करता है, अकेला ही अनेक दुःखों को सहता है। यह अनुभव करता है कि जब मुझे कोई दुःख आता है तो कुटुम्बीजन उसे देखते हुए भी दुःख लेशमात्र को भी करने में समर्थ नहीं होते हैं। शरीर में कष्ट होने पर उस कष्ट को मुझे ही भोगना पड़ता है, और अन्य वस्तुओं की तरह उसमें कोई चाहने पर भी भागीदारी नहीं कर सकता; किन्तु फिर भी माता, पिता, भाई, पुत्र, वगैरह कुटुम्बियों से उसे जो मोह है, वह नहीं छोड़ता है। आचार्य पूज्यपाद ने ठीक ही कहा हैः

मोहेन संवृत्तं ज्ञानं स्वभाव लभते न हि।
मत्तः पुमान्यदार्यानां यथा मदन कोद्रवैः ॥७॥

यह जीव मोह रूपी मदिरा पी के अपने एकत्व स्वभाव को भूल चुका है। जैसे मदिरापान किया हुआ व्यक्ति कभी स्त्री को माता कहता है, माता को स्त्री कहता है। वह यथार्थ वस्तुस्थिति को समझ नहीं पाता। उसी प्रकार मोह रूपी शराब पिया हुआ अज्ञानी प्राणी अपने एकत्व स्वरूप को जान नहीं पाता। दौलतरामजी ने इसी बात का इसप्रकार उल्लेख किया हैः

ताहि सुनी भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण।
मोह महा मद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि ॥३॥

हे भव्य जीवो। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो उस परम पवित्र दुःख के निवारक और सुखकारक शिक्षा को मन स्थिर करके सुनो। यह जीव अनादिकाल से मोह रूपी महामद को पानकर अपनी आत्मा को भूलकर उस मोह मदिरा से उन्मत्त होकर व्यर्थ इधर-उधर चार गति रूप

संसार वन में भ्रमण कर रहा है और स्वरूप को भूल रहा है।

अपना सच्चा आत्मीय वही है, जो हमें सुख देता है और दुःखों को दूर करता है। किन्तु, धर्म दोनों काम कर सकने में समर्थ है। अतः वही हमारा सच्चा बन्धु है और उसी से हमें प्रीति करनी चाहिए। पूरे प्रयत्न से शरीर से भिन्न एक आत्मा जानो। उस आत्मा के शरीर से पृथक्- हो जाने पर यह शरीर जलाने योग्य रहता है। अतः शरीर से मोह को त्याग कर स्वस्वरूप को जानो।

कर्मक्षय भी यह जीव अकेला ही करता है। युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव थे- पाँचों भाई जब कौरवों पर विजय प्राप्त कर चुके और संसार को असार जानकर विरक्त होकर निर्ग्रन्थ मुनि बने। तब कौरव वंश में जो कुछ रिश्तेदार लोग शेष थे, उन्होंने उन पाण्डवों को अग्नि में तप्त लोहे के आभूषण पहनाये। गले में तप्त लोहे का आभूषण जड़ दिया और कहा लो यह हार है। हाथों में संतप्त लोहे का कड़ा डाल दिया और कहा लो ये तुम्हारे कड़े हैं। इस तरह से शरीर के सारे अंगों में अग्नि से खूब तप्त आभूषण कौरवों ने पहनाये, पर धन्य है उन आत्माओं को जिन्हें अपनी सहज आत्मा में लीन रहने के सिवाय उन उपसर्गों पर रंचमात्र भी ध्यान नहीं गया। वे पाँचों पाण्डव अपने ज्ञान स्वभाव में मग्न थे। अपने सहज स्वभाव में आनन्द विभोर थे। ऐसी परम आत्मा किसे वंदनीय नहीं होती? लेकिन उन कौरवों ने उन पर उपसर्ग जारी रखा। वे सभी पाण्डव सम्यग्दृष्टि थे, अपने ध्यान में रत थे, उसी प्रसंग में नकुल और सहदेव को अपनी कुछ परवाह न थी, अपने लिए तो कुछ दुःख न माना लेकिन अपने तीन बड़े भाइयों पर उस तरह उपसर्ग आता हुआ देखकर खेद करने लगे कि देखो! मेरे निरपराध भाइयों पर कैसे उपसर्ग किया जा रहा है। इतना ध्यान भर हो जाने से उन दोनों भाइयों का (नकुल और सहदेव का) मोक्ष पद रूक गया, वे सर्वार्थसिद्धि गए और तीनों पाण्डव (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन) मोक्ष सिधारे। तो यहाँ देखिये-परिणाम सबके पृथक-पृथक होते हैं। जिसका जैसा परिणाम होता है उसको वैसी दशा ही प्राप्त होती है।

वस्तु स्वरूप ही यह है कि पर से पर का कुछ होता नहीं है। यह तो

वस्तु का स्वतः का स्वरूप है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही प्रयोजन के लिए अपना परिणमन करता है ? जैसे घड़ी चलती है तो क्या लोगों को सम्बोधन के लिए चलती है? यह तो कवि अलंकार में कहते हैं। इसमें ऐसा निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध है कि यों परिणमन होता है पर प्रत्येक पुंज में, प्रत्येक पदार्थ में जो परिणमन होता है उसका प्रयोजन यह है कि उसकी सत्ता बनी रहे। इसके आगे उनका और कोई प्रयोजन नहीं। मेरे लिए कोई पदार्थ कैसा ही बन रहा हो तो वह बन रहा है अपना स्वरूप अस्तित्व कायम रखने के लिए। यह जीव तो मोह वाले पदार्थों को निरखकर, कल्पनायें करके इष्ट और अनिष्ट की बातें मन में गुनता है। तो यों देखने पर किसी भी प्राणी को मत निरखिये कि यह खुदगर्ज है। अरे वस्तु का स्वभाव ही है कि वह वस्तु अपने लिए ही अपनी सारी चेष्टायें करता है। अब उन चेष्टाओं का विभिन्न रूप है। यदि कोई सज्जनपुरुष दुनिया का उपकार करने के लिए श्रम करता है तो उस सज्जन पुरुष ने भी किया क्या? जो स्वयं में कषायभाव जगा, करूणा बुद्धि जगी, उसी से प्रेरित होकर जैसे करूणा बुद्धि से उत्पन्न हुई वेदना मिटे, वही तो किया। पापी पुरुष भी करते ही क्या हैं ? उनका जो अज्ञान और कषाय भाव हुआ उनकी वेदना हुई, उसकी शांति के लिए जो उन्हें सूझता है सो किया करते हैं। यह वस्तु का स्वरूप है।

यह जीव अपने उपार्जित किए हुए कर्मों के उदय से भिन्न शरीर को ग्रहण करता है। इसकी माता भिन्न है, इसकी स्त्री भिन्न है और पुत्र भी भिन्न ही पैदा होता है। मनुष्यों का इन से व्यवहार में घनिष्ट सम्बन्ध रहता है- शरीर से, माता से, स्त्री से पुत्र से माता के कहने से पिता भी ग्रहण कर लें, फिर भी मनुष्यों की आदत में पिता के प्रति अधिक प्रेम नहीं है। माँ, स्त्री, पुत्र और शरीर इनसे अधिक सम्बन्ध रहता है, तो अन्यत्वानुप्रेक्षा में इन चारों को सबसे पहले भिन्न बताया गया है। यह शरीर आहारवर्गणा के परमाणुओं का पिण्ड है। जब अन्य भव से विग्रहगति में होकर आता है तो जन्म स्थान तक पहुँचते ही वहाँ जो कुछ भी आहार वर्गणाओं का ढेर मिला है, बीज रूप में उसको यह जीव अंगीकार करता है। वही आकार वर्गणाओं पिण्ड अंगोपांग के निकलने पर वह एक मनुष्य जैसी शक्ल में बाहर

दिखता है। स्थावर जीव के देहों में अंगोपांग नहीं होते सो अटपटी शक्ल में दिखते हैं। तो यह जीव इस देह से भिन्न है। जीव चैतन्य स्वरूप है और देह अचेतनमय है। शरीर से जीव एक क्षेत्रागवाह सम्बन्ध है, जिन स्थानों में जीव प्रदेश रह रहे हैं उन्हीं स्थानों में यह देह रह रही है। देह के रग-रग में जीव प्रदेश मौजूद है और जहाँ देह में कहीं पोल हो गयी जैसे नाक के छिद्र में भीतर पोल है, कान के छिद्रों में पोल है, ऐसे ही जहाँ-तहाँ देह में पोल है वहाँ जीव प्रदेश नहीं है। स्कन्धों में जीव प्रदेश है। इस तरह एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, जीव का और देह का साथ ही जीव और देह में बहुत सी बातों का परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब जीव के प्रदेश में हलन-चलन हुआ तो शरीर प्रदेशों में भी हुआ। जब शरीर से कहीं गमन हो, कोई सोचे कि शरीर यहीं रखा रहे, हम थोड़ी देर बाहर विहार कर आयें तो यह हम आपके वश की बात नहीं है। कोई आहारक या अन्य ऋद्धियों के होने से भले ही शरीर का सम्बन्ध न छोड़कर शरीर से बाहर प्रदेश चले जाते हैं पर इतना घनिष्ट एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है जीव का और देह का कि जब जहाँ-जहाँ जीव वहाँ-वहाँ देह। इस कारण अज्ञानवश इस जीव को इस देह से अज्ञानवश बड़ी प्रीति उत्पन्न हो गयी है। यहाँ कोई किसी का सहायक नहीं है। यहाँ सभी जीव अकेले-अकेले हैं, फिर भी लोग एक दूसरे के पीछे अनेक प्रकार की चिन्तायें करके अनेक प्रकार के विकल्प करके दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ ही खो रहे हैं। कुछ तो अपना निर्णय करना चाहिए, कुछ अपनी अन्तः परख तो करनी चाहिए, जैसे किसी ने किसी बच्चे को बहका दिया कि देख तेरा कान तो कौवा ले गया वह बच्चा उड़ते हुए कौवे के पीछे रोता हुआ दौड़ लगाता है। किसी ने पूछा, "अरे जरा टटोलकर देख तो सही, कहाँ तेरा कान कौवा ले गया उसे कुछ विश्वास हुआ, टटोलकर देखा तो उसका मन उसके पास ही तो है। उसी तरह से लोगों ने एकदूसरे को बहका रखा है कि तुम्हें सुख बाह्य पदार्थों से मिलेगा। इस कारण यह जीव इन बाह्य पदार्थों के पीछे सुख की आशा लेकर दौड़ लगा रहे हैं। ज्ञानी पुरुष समझते हैं कि अरे भाई देख तो सही तू तो स्वयं ज्ञानानन्द मात्र है? कहाँ तेरा सुख इन बाह्य पदार्थों में गया? ज्ञानी पुरुषों की बात का विश्वास करके

कोई जीव देखता है तो उसे पता लगता है ओह! सचमुच मेरा सुख तो मेरे में ही विद्यमान है। इन बाह्य पदार्थों में मेरा सुख नहीं गया। तो जरा सोचो तो सही इन पदार्थों से तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध है क्या? तुम तो ज्ञान मात्र एक अमूर्त आत्मा हो, जिन परिजनों को अपना समझकर अपने प्रति बड़ा लगाव किया जा रहा है वे भी उतने ही दूर हैं जितने अन्य लोग जिन्हें आप गैर समझते हैं। सभी जीव भिन्न-भिन्न हैं ऐसा समझकर अब कुछ तो विराम लेना चाहिए। जिन-जिन वस्तुओं से यहाँ अपना लगाव है उन सभी को छोड़ना होगा।''

एकत्व आत्मा की मजबूरी नहीं है। सहज स्वभाव है। एकत्व आत्मा नित्य स्वभाव है, जो कि अनादिकाल से प्रतिसमय उसके साथ है और भविष्य में अनन्त काल तक रहेगा क्योंकि आत्मा का द्रव्यगत स्वभाव है। इसी प्रकार अन्यत्व भी द्रव्यगत स्वभाव ही है। निज में एकत्व और पर से भिन्न वस्तु स्वभावगत विशेषताएँ हैं। इनके बिना वस्तु का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है।

एकत्व द्रव्य की अखण्डता का सूचक है, कण-कण की स्वतंत्र सत्ता का द्योतक है, साथ या साथी की कल्पना द्रव्य की अखण्डता को चुनौती है, स्वतंत्रता को चुनौती है। एकत्व की प्रतीति में स्वाधीनता का स्वाभिमान जागृत होता है। स्वावलम्बन की भावना प्रबल होती है और वृत्ति का सहज स्वभाव सन्मुख ढुलान होता है। एकत्व भावना के चिन्तवन का वास्तविक सुफल यही है। ध्यान रहे एकत्व वस्तु का त्रैकालिक स्वभाव है और तत्ससम्बन्धी चिन्तन, मनन, घोलन एवं तद्रूप परिणमन एकत्व भावना है। अखण्डता, स्वाधीनता की सूचक और स्वावलम्बन की प्रेरक भावना है। अखण्डता, स्वाधीनता की सूचक और स्वावलम्बन की प्रेरक एकत्व भावना के चिन्तन से जो उल्लास और आनन्दातिरेक जीव में प्रस्फुटित होना चाहिए, दिखाई देना चाहिए, देखने को नहीं मिलता। आज के व्यक्ति को तो अकेलापन काटने को दौड़ता है। सामान्यजनों की बात तो जाने दीजिए। आज त्यागियों को भी साथ चाहिए। सांसारिक कार्यों में तो साथ चाहिए ही, पर अब साधना में भी साथ चाहिए, आराधना में भी चाहिए, ज्ञान में भी साथ

चाहिए। ध्यान में भी साथ चाहिए। नरक स्वर्ग की बात भी जाने दीजिए, मोक्ष भी अकेले जाना स्वीकार नहीं है, वहाँ भी साथ चाहिए। अब तो ध्यान भी एकान्त में न होकर समूहों में होता है।

बारह भावनाओं के चिन्तवन का एक आवश्यक नियम है कि उसके चिन्तवन से सुखानुभव की जागृति होनी चाहिए यदि ऐसा नहीं होता तो समझना चाहिए कि कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है।

अकेले मरना होगा। अकेले जन्मना होगा। सुख-दुःख भी अकेले ही भोगना होगा इस प्रकार चिन्तवन से यदि शोक उत्पन्न होता है तो हमें अपनी चिन्तन प्रक्रिया पर गहराई से विचार करना चाहिए। यदि हमारी चिन्तन-प्रक्रिया की दिशा सही हो तो आह्लाद, आनन्द, सुखानुभव होना ही चाहिए। आचार्यवर्य भी पूज्यपाद एकत्व भावना का प्रयोजन और फल बताते हुए सर्वार्थ सिद्धि अध्याय सूत्र, ७ की टीका में लिखते हैं:

एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति पर जनेषु च। द्विषानुबन्धो नोपजायते ततो निसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते।

इस प्रकार चिन्तन करते हुए इस जीव के स्वजनों में प्रीति का अनुबन्ध नहीं होता और परजनों में द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता, इसलिए निःसंगता को समाप्त कर मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करता है।

एकत्व ही सनातन सत्य है, एकत्व ही शिव (कल्याण) है, साथ ही कल्पना अशिव है, दुःख का मूल है, एकत्व ही सुन्दर है।

एकत्व सत्य है, शिव है, सुन्दर है। साथ है ही नहीं अतः उसके कुछ होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। साथ न सत्य है, न शिव है। न असत्य है, न अशिव है न सुन्दर है, क्योंकि जब वह है ही नहीं, तब फिर क्या है, कैसा है? आदि प्रश्न ही असम्भव हैं, इस पर आप कह सकते हैं कि हम यह तो नहीं चाहते कि हमारा पुत्र परिवार हमारे साथ ही जन्मे-मरे, दुःख भोगे, फिर भी अकेलापन... भाई! महानता तो एकत्व में ही है, अकेलेपन में ही है। मानव तो अकेला ही जन्मता-मरता है। कूकर-सूकर अवश्य दस पाँच एक साथ पैदा होते देखे जाते हैं। सर्प एक साथ लाखों पैदा होते हैं। अनन्तों का एक साथ जन्म-मरण तो निगोदवासी जीवों में ही देखा जा सकता है। इस प्रकार यदि गहराई से विचार करें। तो जन्म-मरण का साथी खोजने का अर्थ निगोद को आमंत्रण देना है। निगोद की तैयारी है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में जीव के अकेलापने का वर्णन इसप्रकार किया है:

दिग्दशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।
स्वस्व कार्यवशाद्यांति देश दिक्षु प्रगे प्रगे ॥

जिस प्रकार संध्याकाल होने पर दिग्-दिगांतर से पक्षी आकर एक वृक्ष में रात्रि बसेरा करके प्रातः अपने-अपने कार्य पर पुनः दिग् दिगांतर में उड़ जाते हैं। उसी प्रकार जीव अनेक गति से आकर एक कुटुम्ब में आकर रहते हैं और अपनी-अपनी आयु कर्म के समाप्त होने पर अपने-अपने कर्मानुसार नाना गतियों में पहुँच जाते हैं। एकत्व-विभक्त आत्मा के प्रतिपादक ग्रंथाधिराज समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव आदेश देते हुए लिखते हैं-

एदम्हि रदो णिच्चं संतुठ्ठो होहि णिच्च मेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तम सोक्खं ॥

हे आत्मन् तू इस ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा में ही नित्य प्रतिवन्त हो इसमें ही नित्य सन्तोष को प्राप्त हो इससे ही तृप्त हो तो तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।

सारा विश्व निज अखण्ड एकत्व के आश्रय से उत्पन्न निरंजन पावन परिणतियों के अजर प्रवाह में निमग्न हो, आनन्द मग्न हो-इसी पवित्र भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ। ॐ शांति ॥

आवाज और आकृति से चोर और साहूकार को पहचानो,
पीड़ा और चीत्कृति से चोट और मार को पहचानो।
धर्म के प्रति अंधश्रद्धा करने की जरूरत नहीं ......
न्याय, युक्ति और तर्क के बल पर धर्म को पहचानो ॥

* * *

स्त्रियों ने ही तो इस घर को उजाड़ा और बसाया है,
स्त्रियों ने ही तो इस मानव को रुलाया और हँसाया है।
मैं कुछ कह रहा हूँ, आप बुरा मत मानना यारो.......
जो कहीं नहीं फंसा हो उसे इन स्त्रियों ने फँसाया है ॥

5 अन्यत्वानुप्रेक्षा

पर द्रव्य से अन्यत्वपना

5 अन्यत्वानुप्रेक्षा

संयोग की अनित्यता, संसार की असारता, द्रव्य की अनित्यता एवं जीव का अशरण आदि का वर्णन किया जा चुका है। एकत्व अनुप्रेक्षा में स्पष्ट किया जा चुका है कि जीव अकेला सुख-दुःख भोगता है और अन्यत्वानुप्रेक्षा में यह समझाया गया है कि परमार्थ से विचार करें तो आत्मा शरीरादि से सर्व सम्बन्धों से अत्यन्त भिन्न है। अन्यत्व भावना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव बारस अनुपेक्खा में गाथा संख्या २३ में लिखते हैं :

अण्णं इमं सरीरा दिगं पिजं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसण मादा एवं चितंहि अण्णत्तं ॥ २३ ॥

आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख स्वरूप है, शरीरादिक सभी बाह्य पदार्थ इससे भिन्न हैं-इसप्रकार चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। प्रवचन सार में छहढ़ाला में आचार्यों ने गृहस्थों के लिए कहा है कि सद्गृहस्थ संसार में कमल के फूल की भाँति अपना जीवन व्यतीत करता है वही कीजिए। जो जल से भिन्न कमल की भांति जीवन व्यतीत करता है वही अनत्व अनुप्रेक्षा है। धर्म एक देश, एक अंश पालन करता है। यद्यपि अन्यत्वानुप्रेक्षा का चिन्तवन तब तक नहीं जब तक मिथ्यात्व नहीं हटता। जिसप्रकार जौहरी कहते हैं कि हीरा सफेद सोने (जिसे प्लेटिनम धातु कहते हैं) में लगाया जा सकता है। इसी प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा का चिन्तन सम्यग्दर्शन में परिपूर्ण चिन्तन हो सकेता है। राजवार्तिक में अलंकदेव ने पाँचवें अध्याय के आठवें सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है-" **कि आत्मा ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग शुद्धनय की अपेक्षा से अप्रदेशी है।**" समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में "**अपदेश-सन्त मज्झं**" कहा। अप्रदेश शब्द का प्रयोग किया क्योंकि शेष सब अवस्थाओं में संकोच विस्तार नहीं होता। वहाँ संकोच विस्तार समाप्त हो जाता है। संकोच विस्तार रहित वह शुद्धोपयोग है। शुद्धनय की अपेक्षा से जो ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग है वह अखण्ड है, उसका ज्ञान भी अखण्ड है। इस प्रकार का जो चिन्तन है वह शुद्धनय की दृष्टि से अन्यत्वानुप्रेक्षा परिपालन का आरम्भिक है।

जिस देह को तू ग्रहण करता है वह तुझसे पृथक् है। जिन माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिक से तू ममता करता है वे भी तेरे से भिन्न हैं। माता के और भी पयार्यवाची शब्द हैं परन्तु कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जननी शब्द को प्रयोग में लिया गया है जिसका कारण है कि जननी पन का नाता राग-मोह बढ़ाने में विशेष आश्रय है। स्त्री को कलत्र शब्द से कहा है स्त्री के पर्यायवाची शब्द और भी हैं भार्या, महिला, पत्नी आदि लेकिन यहाँ कलत्र शब्द से कहने का यही प्रयोजन है कि कलत्रता के नाते से इस जीव को स्त्री से अधिक स्नेह होता है। कलत्र का अर्थ है शरीर की रक्षा करें। भोजन पान देकर अन्य प्रकार सेवायें करके स्नेह देती है। कोई रोगादिक हो जाय तो सबसे अधिक चिन्ता स्त्री को होती है, इस कलत्रता के नाते से इस जीव का स्त्री में प्रेम अधिक हो सकता है, इसलिए स्त्री के लिए कलत्र शब्द प्रयोग किया गया

है। यह कलत्र तुझ से भिन्न है। इसी प्रकार पुत्र को कहा। पुत्र के पर्यायवाची अनेक शब्द हैं- सुत संतानादिक लेकिन यहाँ पुत्र कहने का प्रयोजन यह है कि पुत्र का अर्थ है ''वंश पुनाति इति पुत्र'' जो वंश परम्परा को पवित्र करे वह पुत्र है। मनुष्य को पुत्र से अधिक स्नेह होता है। वह इस कारण से नहीं होता कि इसे मैने पैदा किया है, किन्तु मेरा नाम रोशन करेगा, वंश परम्परा को चलायेगा। उसे वंश चलाने की बात मन में आती है तो पुत्र से स्नेह जगता है। ये पुत्र, कलत्र, जननी आदि शब्द देकर कहा यह है कि तुझ से ये सब अत्यन्त भिन्न हैं जब ऐसा है तो अपना कर्तव्य क्या है? भिन्न है ऐसा जान ले। भिन्न है ऐसा है ऐसा जानकर क्या कर्तव्य है? भिन्न है, मेरी परिणति में कुछ सहयोगी नहीं है। जब ये हम से अत्यन्त भिन्न हैं तब उनमें क्या पर को भिन्न जानकर अपने में लगाव करें? नहीं इन्हें छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह आत्मा ध्यान देह से परे है। देह व आत्मा इन दोनों का भेद-विज्ञान जैसे तलवार व म्यान दोनों पृथक् हैं, कमल और कीचड़ दोनों भिन्न हैं इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा (देह) अलग है। समयसार की १६८वीं गाथा में समझाया है कि **जो न कर्म को और न नो कर्म को ध्याता है, गुण विशिष्ट आत्मा के एकत्व का चिन्तन अनुभव करता है। वह आत्मा अपनी आत्मा का ध्यान करता है- यह अन्यत्वानुप्रेक्षा है।**

यह आत्मा निरूपम, गंध, वर्णरहित, स्पर्श रहित है इसलिए तो सिद्ध पूजा में स्पर्श रहित सिद्धाधिपति ॐ नमः कहते हैं। वे आत्म सुख से सम्पन्न हैं। इन्द्रियों के अगोचर हैं, भयमुक्त हैं। यह आत्मा इन्द्रियगम्य नहीं है, समवशरण में विराजित भगवान की वीतरागता भी हम पर झलकती रहती है। श्वेताम्बर ग्रन्थ के अनुयोगों में लिखा है कि यह कैसे पहचाने कि ये वीतराग है? इसका उत्तर दिया कि पहचानने का प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं, उनकी मुख मुद्रा पर जो प्रशांतरस विद्यमान रहता है, उनकी वीतरागता का ज्ञान स्वयमेव हो जाता है। यह दर्पण निर्मल है, यह मलिन है, यह कैसे जान लिया आपने? वैसे उस निर्मल शरीर द्वारा वीतरागता स्पष्ट झलकती रहती है।

साधारणतया सभी जानते हैं कि घर,धन, वैभव ये सब मुझसे भिन्न

है। देहाती, मूर्ख, शहरी, धनिक, पण्डित आदि सभी के मुँह से यह सुन लो कि यह घर, जमीन, सम्पदा आदि सब मेरे से निराले हैं। मनुष्य जब काल का ग्रास हो जाता है तो यह वैभव और सम्पदा यहीं रह जाती है। उसके साथ कुछ भी नहीं जाता। साधारणतया सभी इस तथ्य को जानते हैं परन्तु खेद और आश्चर्य की बात यह है कि इन सब बाह्य द्रव्यों को अपने से भिन्न जानता हुआ भी यह मूढ़ मानव उन पदार्थों में रचा-पचा रहता है। मूढ़ कहो या मोही। यदि किसी व्यक्ति को यह कहा जाय कि तुम तो मूढ़ हो तो उसे ज्यादा बुरा लगेगा। लेकिन यदि मोही कहा जाय तो उतना बुरा नहीं लगेगा। न जाने मूढ़ और मोही में क्या अन्तर समझते हैं? अर्थ तो दोनों का एक ही है।

हम आप सभी जन जानते हैं कि संसार का समग्र वैभव हमसे निराला है। हाँ। इसे कोई कितनी ही ठोकरें लगाये लेकिन निर्णय यही है कि हमारा गुजारा तो इसी में है। अन्य प्रकार से गुजारा हो ही नहीं सकता। उसी में रचा-पचा रहा है। यह सब अज्ञान का महात्म्य है। इसी प्रसंग में एक दृष्टांत याद आ रहा है :

एक व्यक्ति अपनी पत्नी से डरता था। उसे मदिरापान की आदत थी परन्तु वह मदिरापान करके पत्नी के समक्ष नहीं जाता था। एक दिन की घटना है-जब वह मदिरा सेवन करके अपने घर में प्रवेश कर रहा था, दरवाजे के सामने उसकी पत्नी खड़ी थी। यह देखकर उसके पाँव तले से धरती खिसकने लगी। उसे भान हो गया कि मेरी पत्नी को यह ज्ञात हो गया है कि मैं मदिरा पीये हुए हूँ। शराबी ने सोचा कि पत्नी नाराज होगी अतः उसे प्रसन्न करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। वह मदिरा के मद में चूर था। सामने ही भैंस बँधी हुई थी, शराबी ने भैंस की पूँछ पकड़ी और कहने लगा, 'हे प्रिय! सदैव तुम दो चोटी करती रही हो आज एक ही चोटी क्यों की है?' भैंस जब मूत्र विसर्जन करने लगी तो शराबी मूत्रपान करते कहने लगा- तुम हमेशा चाय में शक्कर डालती रही हो पर आज क्या हो गया जो शक्कर डालना ही भूल गई? जब भैंस ने मल विसर्जन किया तो शराबी ने उस मल को खाते हुए कहा-कि हे रानी! तुम जब भी खिचड़ी बनाती हो, स्वादिष्ट बनाती रही हो, पर आज क्या हो गया जो खिचड़ी का स्वाद कसायला है। इस प्रकार वह शराबी मदिरा के नशे में बकवास कर

रहा था और उसकी पत्नी द्वार पर खड़ी यह स्थिति देखकर हंस रही थी ऐसी ही स्थिति अज्ञानी जीव की है। मोह रूपी शराब पीकर वह अपने स्वभाव को ही भूल रहा है।

आत्मा नित्य निरंजन ज्ञायक स्वभावी है। ऐसी आत्मा को पहचान नहीं पा रहा है और आत्मा के ज्ञान, दर्शन और सुख का साथी है उनको प्राप्त नहीं कर पा रहा है। पर द्रव्य को अज्ञानी मोह के वशीभूत होकर अपना समझ रहा है। जो पुरुष जीव के स्वरूप से देह को तत्त्वतः भिन्न जानकर आत्मा की सेवा करता है, उसकी अन्यत्वानुप्रेक्षा का अनुचिन्तन करना सफल है। अनित्यनुप्रेक्षा का क्या प्रयोजन है? अनित्य भावना में भाते हैं।

राजा, राणा, छत्रपति, हथियन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार॥

ऐसी बातें चिन्तन करें तो चिन्ता होती है। ऐसी चिन्ता से लाभ क्या हुआ।

एक शंका की जा सकती है कि सभी लोग मरते हैं, हमें भी मरना होगा। ऐसा सोचना तो घबड़ाहट पैदा करेगा, उससे क्या लाभ? अनित्यानुप्रेक्षा का चिन्तन करने का प्रयोजन यह है कि सब अनित्य पदार्थों को अनित्य जानकर, अपने नित्य ज्ञायक स्वभाव की शरण लें, उसकी ही रुचि करें। यदि किसी आत्मा के नित्य स्वभाव की रुचि न बने, उस ज्ञान का उपयोग रखकर जो शरण नहीं ग्रहण करता उसकी अनित्यानुप्रेक्षा कार्यकारी नहीं है। अनित्यानुप्रेक्षा का चिन्तन प्रयोजन यह है कि अनित्य पदार्थों को अनित्य जानकर, इन सब समागमों को विनाशक जानकर इनसे मोह न करे और अपने आपका जो नित्य ज्ञान स्वभाव है, जो अपने साथ अनादि से अनन्त काल तक रहेगा, जिसके परिचय बिना ही संसार का जन्म-मरण करना पड़ा रहा है, उस ज्ञान स्वभाव की रुचि करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशरण भावना भायी। इस जीव का कोई शरण (सहारा) नहीं है, जीव अकेला ही मरता है, और अकेला ही उत्पन्न होता है, और अकेला ही सुख-दुःख सहना करता है। जीव की कोई शरण नहीं है, इस तरह की बातें सोचने से घबड़ाहट पैदा करनी की बात हुई। अशरणानुप्रेक्षा का चिन्तन करने का प्रयोजन क्या है? अशरणानुप्रेक्षा का चिन्तन प्रयोजन यह है कि

इन बाह्य पदार्थों से अपने को शरण न समझें। ये बाहरी पदार्थ कुछ भी मेरे शरण नहीं हैं, मेरा शरण ग्रहण करना अशरणानुप्रेक्षा का प्रयोजन है। संसार भावना में स्थूल रूप से यह वर्णन किया गया है कि संसार दुःखमय और असार है। यहाँ प्रत्येक प्राणी दुःखी है। धनी लोभ तृष्णावश दुःखी है तो निर्धन धन के अभाव में, पढ़े लिखे व्यक्ति विद्या गौरव के कारण दुःखी हैं तो मूर्ख अज्ञानता के वश दुःखी है। जगत में कोई भी सुख नजर नहीं आता ऐसा बोध करके क्या लाभ प्राप्त होगा।

संसार अनुप्रेक्षा का लाभ यह है कि यह जानकर कि संसार में सर्वत्र दुःख ही है। किन्तु मेरा सार, मेरे में अपना ज्ञान रूप अंतरंग अपने सत्व के कारण है। अनादि से अनन्त तक विद्यमान है। उसका दर्शन करना, उसमें ही रमण करना यही संसार भावना का प्रयोजन है। एकत्वानुप्रेक्षा में यही समझाया गया है कि जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरण को प्राप्त हो जाता है, अकेला ही जवानी, बुढ़ापादि को प्राप्त कर लेता है। अकेला ही रोगी, शोकी हो जाता है, अतः सब कुछ जीव अकेला ही होता है। ऐसा निरखकर वस्तुतः देखें तो यह जीव अकेला ही है। अपने स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत् है, और पर चतुष्टय ही अपेक्षा असत् है। मैं स्वयं ही द्रव्य हूँ अपने गुणपर्याय का पिण्डरूप हूँ। अपने प्रदेशों में स्थित हूँ, अपना परिणमन हूँ, ऐसा अपने अकेला जान लेना और इसके फल में समझा क्या कि मैं अनादिकाल से अनन्त काल तक शाश्वत एक तकोत्कीरण ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र हूँ। ऐसा अपने एकत्व स्वरूप पर दृष्टि ले जाना जिसमें उपर्युक्त होने से कर्मों का क्षय होता है और मुक्ति की प्राप्ति होती है। हमेशा के लिए जन्म-मरण का संकल्प मिट जाता है। ऐसे अपने एकत्व स्वरूप में एकत्व भावना भाने का प्रयोजन है।

जीव के सब रूप से देह को भिन्न जानकर मात्र निज अंतस्तत्व की उपासना करना, तब ही अन्यत्व भावना भाना सफल है। यों तो अन्यत्व भावना शब्दों से सभी भा लेते हैं। पर जब घर में लड़ाई हो तो झट अन्यत्व भावना सामने आ जाती है अरे कोई किसी का नहीं है सब भिन्न-भिन्न है लेकिन यह अन्यत्व भावना कषायवश आयी है। विवेक इसमें नहीं आया है। विवेक से यदि अन्यत्व की भावना सोची जाय तो यह एक है बाह्य अन्यत्व

का परिचय। किन्तु वह अन्त में यह परिचय करेगा कि मैं एक सहज ज्ञान स्वभाव रूप हूँ। इसके अलावा अन्य सारी परिणतियाँ मुझसे भिन्न हैं। देखो कोई प्रभु हो गए तो क्या हो गए। जो उनका न था वह छूट गया जो था वह दृढ़ता से हो गया। इसका अर्थ है प्रभुता पा लेना। अब बतलाओ प्रभु ने कोई बड़ा काम तो नहीं किया, जो थे सो रह गए बस इतना ही किया। यह भक्ति के अलंकार में कहा जा रहा है।

उन्होंने कोई पहाड़ नहीं उठाया न कोई संग्राम किया, न कोई बड़ा परिश्रम किया अर्थात् बाहरी बातें नहीं कीं। किया क्या? केवल अपने कैवल्य स्वरूप की भावना की, उपासना की। उसी प्रसाद से अब वे केवली हो गए। जैसी श्रद्धा होती है जीव की प्रवृत्ति वैसी ही होती है। यह तो एक सामान्य बात है। जिस मनुष्य की पाप में सुख मानने की श्रद्धा जागती है उसकी पाप में प्रवृत्ति होती है। जिसको शुभ में पुण्य में हित मानने की प्रवृत्ति होती है। उसकी किसी अंश में पुण्य प्रवृत्ति होती है और जिसको समस्त विभावों से रहित अपने आपके सत्त्व के ही कारण जैसा जो सहज स्वरूप है वही मैं हूँ इस तरह जानने की रुचि रहती है उसको वही गुण प्रगट होता है। तो प्रभु ने अपने कैवल्यज्ञान स्वरूप की उपासना की, उसके प्रसाद से वे केवली हो गए। यही उनकी प्रभुता है। हम भी देह से भिन्न अन्तस्तत्व की उपासना करके शाश्वत निराकुलता प्राप्त करें यही अन्यत्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन है। आचार्यश्री पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थ सिद्धि में लिखते हैं-

''मभेद बुद्धि लक्षणः परिग्रहः''

यह मेरी वस्तु है- इस प्रकार का संकल्प करना ही परिग्रह है। यह अज्ञानी जीव वस्तु आत्मा से पृथक् होते हुए भी अपना समझ रहा है।

जीव संसार में मोहवश जगत् के सब जड़ चेतन, पदार्थों को अपनाता है। किसी से पिता, भाई, बहन, पुत्र, पति, पत्नी मित्र आदि के भिन्न-भिन्न सम्बन्ध जोड़कर ममता करताहै। मकान, दुकान, सोना, चाँदी, गाय, भैंस, घोड़ा, वस्त्र, बर्तन आदि वस्तुओं से प्रेम जोड़ता है। शरीर को तो अपनी वस्तु समझता ही है। इसी मोहं ममता के कारण यदि भिन्न कोई व्यक्ति इस मोही आत्मा की प्रिय वस्तु की सहायता करता है, उसको अच्छा समझता

है। उसे अपना हितैषी मानता है और जो इसकी प्रिय वस्तु को लेशमात्र भी हानि पहुँचाता है। उसको अपना शत्रु समझकर उससे द्वेष करता है, लड़ता है, झगड़ता है। इस तरह संसार का सारा झगड़ा संसार के अन्य पदार्थों को अपना मानने के कारण चल रहा है।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्ध।
तस्यास्ति किं पुत्र कलत्र मित्रै ॥
पृथक्कृते चर्मणि रोम कूपाः।
कुतोरेहि तिष्ठन्ति शरीर मध्ये सा. ॥ पा. ।

जिस शरीर को साथ लाये हो, जिसकी खूब सेवा सुश्रूषा की, शृंगार किया, उसे भी तुम छोड़ जाते हो, यह भी तुम्हारा नहीं हुआ, तो यह स्त्री-पुत्र, मित्र, महल, मकान, जायदाद, कैसे तुम्हारी हो सकती है?

समयसार के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट उल्लेख है कि-यह मेरा है, अगले भव में मेरा होगा, पूर्व भव में मेरा था इत्यादि सम्बन्ध तो संयोगमात्र है, ऐसी भावना रखनी चाहिए। आचार्यों ने गृहस्थियों के लिए भी कहा कि किंचित परिग्रह आप रखते हैं क्योंकि आप श्रावक हैं कोई बात नहीं पर मूर्छा तो मत रखिये। मूर्च्छा त्याग अनासक्ति योग है। भरत, चक्रवर्ती का वैभव, लुभावने पदार्थों के रहते हुए भी उन पदार्थों से मोह ममता न हो, उनको अपना न समझें, जल में कमल की तरह से अपने आपको पृथक् समझें। संसार उनके चारों ओर हो तो हो किन्तु उसके हृदय में अपनी आत्मा के सिवाय संसार की जड़ चेतन वस्तु न हो, तो न उसके अंतरंग में परिग्रह है न बहिरंग में यदि मन में पदार्थों के साथ मोह ममता है किन्तु है नग्न दिगम्बर साधु, तो वह परिग्रही है। उस साधु की अपेक्षा भरत जैसा श्रावक श्रेष्ठ है। इस भाव को आचार्य प्रवर समन्तभद्र ने इस प्रकार दिखाया है :

गृहस्थो मोक्ष मार्गस्थो निर्मोही नैव मोहवान।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोही मोहिनो मुनेः।

मोह ममता रहित गृहस्थ मोक्षमार्ग पर चलने वाला है। मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं। उस मोही मुनि से श्रावक (गृहस्थ) श्रेष्ठ है। ये अज्ञानी जीव सम्बन्ध मान करके दुःखी होते हैं। वस्तुतः सारा संसार स्वार्थमय और

आत्मा से पृथक् है। इसी प्रसंग में मुझे एक कथानक याद आ रहा है :-

एक व्यक्ति के चार पुत्र थे। सब ओर वैभव सम्पन्नता थी। जब वह व्यक्ति वृद्धावस्था में आया तो उसके मन में विचार आया कि मेरे पास जो धन-सम्पत्ति है उसको अपने इन चारों पुत्रों में बाँट दूँ। मुझे इस पूँजी का क्या करना है। पुत्रों के द्वारा चार बार नाश्ता, दो बार भोजन मिल रहा है और रात्रि को सभी मेरी वैयावृत्ति कर रहे हैं। वृद्ध के मन में विकल्प आया कि चलो एक बार इस प्रसंग में अपने मित्रों की राय भी ले लूँ ।

मित्रों के समक्ष समग्र स्थिति रखते हुए वृद्ध ने कहा कि मेरे बेटे बड़े हो चुके हैं। अब मेरी आयु का कोई ठिकाना नहीं है, न जाने कब काल महाबलि का मेहमान हो आऊँ। मेरे पास जो भी सम्पदा है उसका मैं अपने चारों पुत्रों में बँटवारा करना चाहता हूँ, आपकी क्या राय है? मित्रों ने कहा, ''देखो मित्र। नीति कहती है कि तुम्हें अभी धन का बंटवारा नहीं करना चाहिए। जो सेवा सुश्रूषा अभी पुत्रों द्वारा की जा रही है, धन दे देने पर बंद हो जायेगी। मित्रों की यह राय सुनकर वृद्ध कहने लगा कि ऐसा तो असम्भव है। मेरे पुत्र मुझे धोखा नहीं दे सकते। घर आकर उस वृद्ध ने अपने चारों पुत्रों को बुलाया और अपनी धन-सम्पत्ति का बँटवारा कर दिया। पुत्रों ने तब सोचा कि जो मिलना था वह तो मिल चुका। अब हमारे वृद्ध पिता के पास शेष क्या रहा है? अतः अब चाय, नाश्ता भोजन क्यों दें और क्यों वैयावृत्ति करें? अब सेवा से हमारा स्वार्थ तो सिद्ध होने से रहा। ऐसा सोचकर सब बेटों ने अपने वृद्ध पिता की सेवा-सुश्रूषा अगले दिन से बन्द कर दी। ''

अगले दिन प्रातः काल वृद्ध के पास किसी भी बेटे ने न तो चाय भेजी और न ही नाश्ता। तब उसे चाय-नाश्ते की याद सताने लगी। दोपहर हो गयी। भूख सताने लगी। वह सोचने लगा भोजन आ जायेगा। ऐसा सोचते-सोचते दो बज गये। फिर चाय-नाश्ता की याद सताने लगी। पर सायं का भोजन भी नहीं आया। रात्रि की चाय भी नहीं आई। अब वह सोचने लगा कि आज चारों बेटे किसी कार्य में व्यस्त हो गये होंगे, अब वे भोजन लेकर आते ही होंगे वैयावृत्ति के लिए । आखिरकार रात्रि के दस बज गए। पुत्रों में से न तो कोई आया न किसी ने ही उसकी सार संभाल ली। इस प्रकार

अन्न-जल ग्रहण किये बिना वृद्ध के ४ उपवास हो गये। वह सोचने लगा ऐसा क्यों हुआ?

चलो मित्रों के पास चलते हैं। संकट के समय मित्र ही काम आते हैं। मित्रों से इस संकट निवारण का उपाय भी पूछ लूँगा और भोजन भी कर लूँगा। वृद्ध के मन में यह बात शूल की तरह चुभ रही थी कि बँटवारे के बारे में मित्रों की राय को मैंने महत्त्व नहीं दिया। अब मैं उनके पास कैसे जाऊँ। अब मैं करूँ तो क्या करूँ। अगर नहीं जाऊँ तो भूखों मरना होगा। भूख उसे सहन नहीं हुई और वह मित्रों के घर पहुँच गया। मित्रों को सारी स्थिति सुनाई और उनसे संकट निवारण हेतु उपाय जानना चाहा, मित्रों ने कहा कि पहले भोजन कर लो बाद में बात कर लेंगे।

मित्रों ने सोचा कि अपनी करनी का फल यह भोग चुका है अतः अब इसे शर्मिन्दा करना अच्छा नहीं। मित्रों ने सलाह करके उसे कहा कि देख मित्र । तुम १० ईंटे ले आओ। इनमें ५ पर सोने की और ५ पर चाँदी की पालिश कराओ। ये ईंटे अपने कमरे में ले जाकर काँचवाली आलमारी में रख लेना। अपने पोतों को बुलाकर दूर से उन ईंटों को दिखाकर कहना कि देखो मेरे पास ५ ईंटें सोने की और ५ ईंटें चाँदी की हैं। ऐसा करने से बेटों को यह पता लग जायेगा कि अभी आपकी पूँजी खत्म नहीं हुई और वे पुनः सेवा-सुश्रूषा करने लग जायेंगे। बच्चों को बताने का मुख्य कारण यह है कि बच्चों के पेट में बात पचती नहीं है। वे अपनी माता को बता देंगे। स्त्रियाँ लोभी होती हैं और वे अपने पतियों को ईंटों की बात कहेंगी तथा पुनः सेवा-सुश्रूषा करायेंगी। वृद्ध घर आया और उसने मित्रों की सलाह के अनुसार ही कार्य किया। अगले दिन प्रातः चारों बेटे चाय-नाश्ता लेकर उपस्थित थे। कह रहे थे पिताजी! क्षमा करना। अचानक कार्य ही ऐसा आ गया था कि हम बिना बताये ही बाहर चले गये थे। इस कारण आपको जो कष्ट हुआ उसके लिए हम माफी माँगते हैं और अब पहले से अधिक सेवा-सुश्रूषा आरम्भ कर दी।

एक दिवस वृद्ध मृत्यु को प्राप्त हो गया। चारों पुत्र पिता की अर्थी श्मशान तक ले जाने से पूर्व झगड़ने लगे। कहने लगे मैंने पिताजी की अधिक सेवा की है अतः मुझे दो ईंट मिलनी चाहिए। सभी का यही दावा था

कि मैं ही पिता की सर्वाधिक सेवा करने वाला हूँ। अतः मैं ही दो ईंटों का स्वामी हूँ। मित्रों को पता चल चुका था कि हमारा परम मित्र मृत्यु को प्राप्त हो चुका है अतः वे उसकी अंतिम यात्रा में शामिल होने के लिए घर पहुँचे। वहाँ का नजारा ही अलग था- देखा कि धन के लिए झगड़ा हो रहा है। मित्रों ने राय दी कि देखो किसने अधिक सेवा की यह तो तुम्हारें पिताजी ही जानते थे। नीति तो अब यह कहती है कि सबको समान अधिकार दिया जाय। ऐसा कहकर मित्रों ने एक ईंट के जैसे ही चार टुकड़े किये- उसमें से मिट्टी निकली। चारों बेटों ने माथे पर हाथ मारा और मन में सोचा, इस बूढ़े ने हम सबको ठगने के लिए यह जाल रचा था। हम सब ठगे गये। इस प्रकार पश्चाताप करते हुए अपने-अपने कार्य पर चले गये। फिर मित्रों ने मृतक शरीर का दाह संस्कार किया।

इस प्रकार स्वार्थस्वरूप संसार है। इसलिए अपने से पृथक अंतस्वरूप को देखो तो यह आत्मा भी किसी पदार्थ में प्रवेश करके सोता, जागता, देखता नहीं है, यह अपने में ही रहता हुआ जानता देखता है। जैसे दीपक को ये पदार्थ जबरदस्ती नहीं करते कि ऐ दीपक तुम क्यों बुझे पड़े हो? तुम जल जावो, हम यहाँ अंधेरे में पड़े हैं और न दीपक ही अपनी जगह से खिसक कर इन समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने जाता है। दीपक भी अपनी जगह है और वे पदार्थ भी अपनी-अपनी जगह हैं, पर दीपक का स्वभाव है कि यह स्वयं प्रकाशमान रहे और इन पदार्थों में स्वयं ऐसा स्वभाव है कि वे दीपकादि जैसे प्रकाशमान पदार्थ का सान्निध्य पाकर स्वयं अंधकार अवस्था को छोड़कर प्रकाश अवस्था में आ जाते हैं। आपने यह न देखा होगा कि दीपक ने यदि काले घड़े को प्रकाशित किया तो दीपक ही काला बन जाय अथवा चौकोर टेबिल को प्रकाशित किया तो दीपक चौकोर रूप बन जाय। वे पदार्थ ही अपने स्वरूप से प्रकाशित होते हैं। ऐसी ही बात यहाँ है। हम इतने ज्ञेय पदार्थों को जानते हैं, वे ज्ञेय बनते हैं, मैं ज्ञायक रहता हूँ लेकिन यहाँ एक विडम्बना और है, वहाँ तो दीपक काला, चौकर, गोलादिक नहीं बनता, पर यह आत्मा विकल्प में इन बाह्य पदार्थों की इष्ट-अनिष्ट परिणति को निरख कर सुखी-दुःखी बन जाती है। भीत की एक ईंट खिसकी हो तो इसके दिल की भी ईंट खिसक जाती है। कहीं वैभव,

दुकानादि जल रही हो तो इसका दिल भी जलने लगता है। वस्तुतः हैं सब बातें न्यारी-न्यारी परन्तु जैसा विकल्प बीतता है वह वैसा ही सोचने लगता है। यह सब अज्ञान का परिणमन है।

इस अन्यत्वानुप्रेक्षा में यही बतलाया गया है कि हे भव्य जीव! तुम अपने स्वरूप को देहादिक से भिन्न जानो और भिन्न जानकर स्व-पर का विकल्प तोड़कर आत्मा में स्थिर होने का यत्न करो। यह अपनी आत्मा की सेवा है।

हम दूसरों की सेवा अनादि से करते आये हैं अरे तो ऐसा भी नहीं करते आये, किन्तु दूसरों के विकल्प रख-रखकर अपने आप में चेष्टा अनादि से करते आये हैं। हमने आपकी वस्तुतः सेवा नहीं की। जैसे कोई कामी पुरुष किसी आसक्ति के कारण खाना-पीना भी छोड़ देता है, अपने शरीर की सम्भाल छोड़ देता है, पागल सा बनकर यही विचारता रहता है तू कर क्या रहा है वह? दूसरों की सेवा करने के लिए भी उत्सुक जिस पर प्रीति हुई है, उसको रिझाने, मिलने प्रसन्न रखने के लिए इतना दत्त चित्त है कि अपने आपके इस शरीर की भी खबर छोड़ देता है। यह तो एक बाहरी बात और यहाँ ये अज्ञानी जन कर क्या रहे हैं कि बाह्य पदार्थों में इन्हें आसक्ति जगी है। इनके लिए तो बहुत सुख है। स्वादिष्ट भोजन करने में ही तो आनन्द मिलता है। आसक्ति से खाते हैं, स्वाद लेते हैं, पर वह बात भूल गए कि इस मिठाई के खाने के समय भी जो स्वाद आ रहा है वह ज्ञान का स्वाद आ रहा है, इन पदार्थों का स्वाद नहीं आ रहा है। किसी भी प्रसंग में जन-जन भी ये आनन्द मानते हैं, सन्तोष करते हैं तो वे अपने ही किसी ज्ञान का स्वाद लेते हैं, आनन्द मानते हैं पर समझते हैं कि इससे स्वाद आया।

अज्ञानी जीवों ने यह भ्रम कर लिया है कि मुझे आनन्द इन पदार्थों के छूने से होता है, मुझे को आनन्द इन पदार्थों का स्वाद लेने से होता है, इन रूपों के देखने से मुझे को आनन्द होता है। ये दुनिया वाले मेरे बारे में अच्छा कहें ऐसी बात मेरे सुनने-जानने से आये, इससे ही मुझको सुख होता है।

राग-द्वेष मोहवश हुए दुःखों को मिटाने का उपाय निज ज्ञान स्वभाव के ज्ञान का पौरुष-मेरा सुख इस मानव के आधीन है, विषय के आधीन है, ऐसी भ्रान्ति कर यह जीव यह भूल गया कि यह स्वयं ही तो आनन्द का पिण्ड है। इन घटनाओं में आनन्द जग रहा है। वह इन चीजों का आनन्द नहीं है। वह तो मेरा ही परिणमन है। इस तथ्य को भूल जाने के कारण यह जीव उन बाह्य पदार्थों में ही दौड़ लगाये जा रहा है। ऐसी चाह वाले मनुष्य अनेकों हैं। वैभव है परिमाण का और उसके चाहने वाले हैं सभी मनुष्य। सभी तो उस पर टूट पड़ते हैं। एक दूसरे का विरोधी जानकर जिसने समझा कि मेरे विषय में यह बाधक बन रहा है, उस पर टूट पड़ता है, यों यह जीव मोह राग द्वेष के वशीभूत होकर निरन्तर दुःखी रहता है। इस जीव के दुःख मिटने का उपदेश आचार्यों ने यह दिया है कि तुम वस्तु के सत्य स्वरूप को जानो, तुम्हारे स्वरूप से देह विषय आदिक समस्त द्रव्य भिन्न हैं। उनकी उपेक्षा करके स्व-स्वरुप में रुचि करें, लीन रहें, यही इस अन्यत्वभावना भाने का फल है।

सर्वशक्ति सम्पन्न, पर द्रव्य से भिन्न शुद्धात्म तत्त्व को जन- साधारण पहचाने, अनुभव करे, इसी परम पावन भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ। ॐ नमः ।

उठने में थोड़ा सा आलस्य होने पर प्रभात निकल जाता है,
उठने में थोड़ा सा आलस्य होने पर चोर निकल जाता है।
ध्यानपूर्वक सुनो भाई! प्राणी संसार से विरक्त होने में .....
थोड़ा सा आलस्य होने पर नरभव व्यर्थ निकल जाता है।

* * *

सरल मन से पिया विष भी अमृत बन जाता है,
हीन दया से पिया गया अमृत भी विष बन जाता है।
अधिक क्या कहूँ अंतर्मन से की गई भक्ति से......
प्राणी भव समुद्र से तर कर परमात्मा बन जाता है॥

6 अशुचि अनुप्रेक्षा

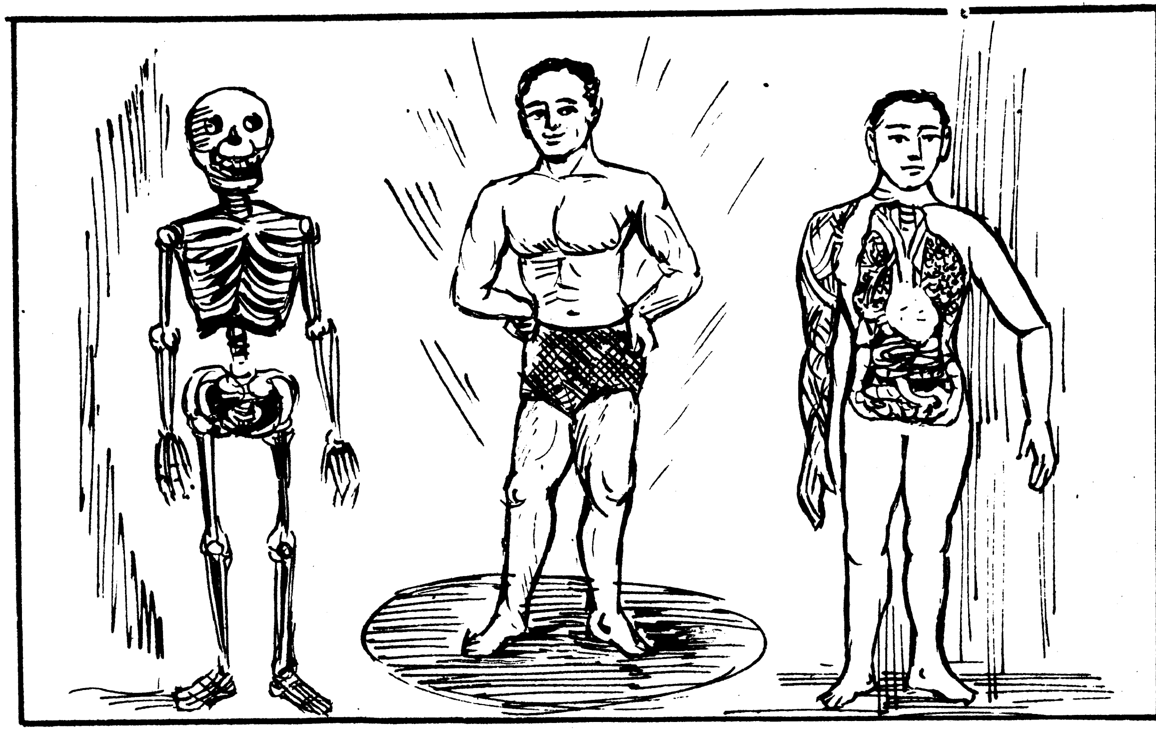

देह की दशा

८ अशुचि अनुप्रेक्षा

शरीरादिक सम्बन्ध अनित्य है, अशरण है, असार है, आत्मा से पृथक् है, इस परम सत्य से अच्छी तरह से परिचित हो जाने पर भी ज्ञानीजनों को रागवश, गुणस्थानानुसार शरीर से अति निकटवर्ती सम्बन्ध से शरीर के प्रति विकल्पात्मक तरंगे उठा करती हैं। शरीर सम्बन्धी उक्त रागात्मक विकल्प तरंगों के उपशम के लिए बुद्धिमान जनों द्वारा किया जाने वाला शरीर सम्बन्धी अशुचिता का बार-बार चिन्तवन ही अशुचि अनुप्रेक्षा है। देह की अशुचिता (अशुद्धता) के सम्बन्ध में प्रथम तो समझिये कि इस शरीर की उत्पत्ति किस प्रकार होती है।

भगवती आराधना में शरीर की उत्पत्ति वगैरह इस प्रकार बतलाई है-

कोई जीव मरकर जब गर्भ में आता है तो गर्भ में १० दिन तक इस शरीर का बीज कलिल अवस्था में रहता है। कलिल अवस्था ऐसी होती है कि जैसे गला हुआ ताँबे और चाँदी आपस में मिलने पर होता है। दृढ़ता लिये गीला सा बीजाभू शरीर रहता है। गर्भ अवस्था में माता के रज और पिता के वीर्य की ऐसी ही स्थिति दस दिन तक रहती है। इसके बाद दस दिन तक इसका रंग कृष्ण हो जाता है। अब तक तो वह अस्थिर था, पिण्ड होकर भी कुछ-कुछ गीला होने के कारण चलित अवस्था सी रहती थी, अब वह स्थिर हो गया। इन बातों का अनुमान अंडे में आने वाले जीव के शरीर को देखकर किया जा सकता है। कभी छोटी अवस्था में कहीं अण्डा फूट जाता है, गिर जाता है, तो अण्डे से कलिल की तरह पानी जैसा फैल जाता है। यदि ज्यादा दिन अण्डा रहा हुआ होता है, तो फैलता नहीं है, किन्तु गीला होकर भी स्थिर सा रहता है। ऐसे ही मनुष्य के गर्भ में ऐसी स्थिति होती है। पहले महीने में यह दशा हुई, दूसरे महीने में यह शरीर बुदबुदे की तरह हो जाता है, तीसरे महीने में उसमें कड़ापन आता है। मनुष्य जो बना है, उसकी क्रमशः ऐसी स्थितियाँ होती हैं। जीव तो उसमें गर्भ के प्रथम ही दिन से है। तीसरे माह में उस शरीर से ऐसी जगह अंकुर फूटने लगते हैं, जहाँ से हाथ-पैर आदि बनते हैं। ऐसे में अंकुर पाँच फूटते हैं- दो हाथ के, दो पैर के और एक सिर का। सातवें महीने में चमड़ा, केश, रोम, नख आदि भी बन जाते हैं। कभी-कभी कोई बच्चा सातवें माह में पैदा होता है, और उसमें यह सब होता है। छठे महीने में बच्चा पेट में घूमने लगता है। थोड़ा सा सरकना, हिलना-डुलना आदि ऐसी बातें उसमें भी आने लगती हैं। नवें अथवा दसवें माह में बच्चा गर्भ से बाहर निकलता है। इस तरह इस शरीर का निर्माण हुआ। इस निर्माण विधि में प्रारम्भ से अन्त तक आपको यही ध्यान में आ रहा होगा कि यह सारा शरीर अशुचि ही अशुचि है।

इस बने हुए शरीर में क्या-क्या रचनायें हैं? इसका भी परिज्ञान करने से यह बात ज्ञात होती है कि यह शरीर अशुचिमय है। इस शरीर में आयुर्वेद शास्त्र के मुताबिक ३०० हड्डियाँ बताई गयी हैं। जैसे अंगुलियों के भीतर भी हड्डियाँ और जुड़ी हुई हड्डियाँ हैं। ऐसी सारे शरीर में मिलाकर ३०० हड्डियाँ होती हैं। ये हड्डियाँ मज्जा मास की धातु से भरी हुई होती हैं। उन हड्डियों के ऊपर लिपटी रहती हैं। ३०० ही इसकी संधियाँ हैं। इसमें ९०० नसें पायी

जाती हैं, ७०० इसमें शिरायें हैं। ५०० मांस की गाँठें हैं, शिराओं के चार समूह हैं, रक्त पूर्ण १६ महाशिरायें हैं। उन शिराओं के ६ मूल हैं और मांस रज्जु हैं। वे रस्सी की तरह हैं। इतने लम्बी-चौड़ी रज्जु हैं पीठ पेट को कसने वाली कि जिनका इकहरा विस्तार हो बहुत बड़ी लम्बाई बने। ७ मांस खण्ड हैं, ८० लाख करोड़ रोम हैं। अमाशय में १६ आँतें हैं। ७ दुर्गन्ध के आश्रय हैं। तीन स्थूणा हैं- वात, पित्त और कफ़। १०७ मर्मस्थान हैं, जिसमें चोट लगे तो प्राण निकलने जैसी वेदना मालूम पड़ती है, जैसे गले की जगह, नाभि की जगह, ऐसे १०७ मर्म स्थान हैं। ९ मल द्वारा हैं। जिनसे सर्वदा मल झरता रहता है। २ कान के छिद्र, २ नाक के छिद्र, २ आँखों के छिद्र, एक मुख का छिद्र और २ मल तथा मूत्र के छिद्र ऐसे ९ मल द्वारे हैं जिनसे सदा अपवित्र चीजें झरती रहती हैं, देखिये- शरीर में सब से अधिक ७ मल के द्वारा इस मुख पर हैं। इन नाकों के छिद्रों से नाक झरती है। दोनों आँखों से आँखों का कीचड़ निकलता है। मुख से लार, कफ, थूंक वमनादि निकलते हैं। ऐसे महा अपवित्र मुख स्थान से अपना परिचय. करते हैं और उसमें सौन्दर्य का व्यवहार बनाते हैं। बहुत सी महिलायें अथवा पुरुष तो इस मुख स्थान को पोंछ, पाँछकर, तेल पावडर आदि से बहुत सजाते हैं, तो क्या करते हैं मानो मल से भरे हुए स्वर्ण के घड़े को सजाते हैं। इस देह में एक अंजली प्रमाण मस्तक है। एक अंजली प्रमाण मेदा एक अंजली प्रमाण ओज है, तीन अंजली प्रमाण पित्त है और एक अंजली प्रमाण वीर्य है। तीन अंजली प्रमाण बसा है (इस देह के वर्णन में यह प्रायः मनुष्य देह की बात चल रही है) इसमें ८सेर खून है, १६सेर मूत्र रहता है, २४सेर विष्टा रहती है। अब आप समझिये कि करीब इतनी विष्टा निरन्तर इस शरीर में न रहे तो यह जीवित नहीं रह सकता है। ऊपर से इस शरीर का बड़ा भला रूप लग रहा है किन्तु भीतर में महा अपवित्रतायें इसके अन्दर भरी हैं। इसमें २०नख हैं जो अंगुलियों के अन्त में निकलते हैं और ३२दाँत होते हैं। किसी के इससे कुछ कम भी हो सकते हैं। इस शरीर में भरा क्या है। इसका वर्णन इसलिए किया जा रहा है कि जिस शरीर से इतनी अधिक ममता की जाती है वह शरीर पौद्‌गलिक पिण्ड है और कैसा अशुचिमय है। अशुचि भावना में अन्य कवियों ने भी इस शरीर की अशुचिता का वर्णन किया है। भूधरदास कवि ने बताया है कि हाड़-मांस का यह पिंजरा है। यह शरीर स्वयं तो

अपवित्र हो जाते हैं। शुद्ध सात्त्विक, सुस्वादु, सुन्दरतम भोजन इसके संसर्ग में आने वाले प्रत्येक पदार्थ भी इस के संयोग से अपवित्र हो जाते हैं, इसके संसर्ग में आते ही उच्छिष्ट हो जाता है, मुँह में डालते ही अपवित्र हो जाता है चबाया हुआ ग्रास हाथ में लेते ही स्वयं को भी ग्लानि उत्पन्न होती है। पेट में पहुँच जाने के बाद वमन हो जावे तो उसे कोई छूने को भी तैयार नहीं होता। अधिक काल तक देह के सम्पर्क में रहने पर तो वह मल मूत्र में परिणित हो ही जाता है।

प्रातः शुद्ध साफ सुन्दर वस्त्र पहनते हैं तो शाम तक ही मैले कुचैले हो जाते हैं, पसीने की गंध आने लगती है। निर्मल जल से स्नान करने पर भी यह शरीर तो निर्मल नहीं होता, जल अवश्य मैला हो जाता है। इस बात की चर्चा करते हुए 'स्नानाष्टक' में कहा गया है:

''सन्माल्यादि यदी य संनिधिवशादस्पृश्यतामाश्रयेद्
विण्मूलादिभृतं रसादि घटितं वीभत्सु यत्पूति च।
आत्मानं मलिनं करोत्यपि शुचि सर्वाशुची नामिदं
संकेतैकगृहं नृणां वपुरपां स्नानात्कृर्थ शुद्धयति॥''

जिस शरीर की समीपता के कारण उत्तम माला आदि पदार्थ छूने योग्य नहीं रहते हैं, जो मल मूत्रादि से भरा हुआ है, रस रुधिरादि सात धातुओं से रचा गया है, भयानक है, दुर्गन्ध से युक्त है तथा जो निर्मल आत्मा को भी मलिन करता है, समस्त अपवित्रताओं के एक संकेत गृह के समान यह मनुष्यों का शरीर जल स्नान से कैसे शुद्ध हो सकता है। एक बार धर्मराज युधिष्ठिर तीर्थयात्रा के लिए जा रहे थे, वे श्री कृष्ण के पास गये और यात्रा के साथ-साथ चलने का आग्रह किया। श्री कृष्ण स्वयं नहीं गये तुम्बी का फल दिया और कहा तुम इसे तीर्थयात्रा करवा लाओ। यात्रा से लौटने पर युधिष्ठिर ने तुम्बीफल श्री कृष्ण को वापस लाकर दिया और बताया कि हमने सब तीर्थों पर एक-एक बार स्नान किया पर इस फल ने सैंकड़ों बार स्नान किया है। हर यात्री आपके द्वारा प्रदत्त यह फल है यह जानकर इसे लेकर स्नान करता था। श्री कृष्ण ने कहा ऐसी बात है तो सब इसे खाओ। सबने काटकर एक-एक टुकड़ा मुँह में रखा और थूं थूं करने लगे, बहुत कड़वी है, बहुत कड़वी है कहने लगे। इतना स्नान करने के बाद भी उसका कड़वापन नहीं गया। अतः केवल चर्म धोने से कर्म नहीं

धुलते। क्रोध, मान,माया, लोभ मिथ्यात्व आदि छोड़ने से ही सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं।

इस बात की चर्चा करते हुए पद्मनंदी पंचविशति में कहा गया है-

सन्माल्यादि यदीयसंनिधिवशादस्पृश्यतामाश्रेयद्।
विण्मूत्रादिमृतं रसादिघटितं वीभत्सु यत्पूति च।
आत्मानं मलिनं करोत्यति शुचि सर्वाशुचीनामिदं।
संकेतैकगृह नृणां वपुरपां स्नानात्कथं शुद्धयति ॥१॥

जिस शरीर की समीपता के कारण उत्तम मालादि पदार्थ छूने के योग्य नहीं रहते हैं, जो मल-मूत्रादि से भरा हुआ है, रस-रुधिरादि सप्त धातुओं से रचा गया है, भयानक है, दुर्गन्ध से युक्त है तथा जो निर्मल आत्मा को मलिन करता है, समस्त अपवित्रताओं के एक संकेतगृह के समान यह मनुष्यों का शरीर जल स्नान से कैसे शुद्ध हो सकता है? कभी नहीं। दुनिया में ईसाई, जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान कोई बुरा नहीं है, बुरा वही है जिसकी नियत बुरी है। गुणभद्राचार्य ने कहा है कि धर्म प्रत्येक आत्मा में है। जब आत्मा स्वच्छ होगी, निर्मल होगी तभी कल्याण होगा। आचार्यों ने प्राणीमात्र के कल्याण के लिए दर्शन दिया, दृष्टि दी।

श्री कृष्ण ने भी एक जीवन दर्शन दिया । बैर अज्ञानता में मानव जीवन दुःखी है। धर्म प्रत्येक आत्मा में है। कृमि कीट में भी आत्मा है।

यह देह इतनी अशुचि है कि इस देह पर यदि भला पवित्र, सरस, सुगंध, मनोहारी पदार्थ भी लगा दिया जाय तो वह भी घिनावना हो जाता है। जैसे चन्दन बहुत सुगंधित पदार्थ है, लेकिन चन्दन घिसकर कोई मस्तक में लगाता है और ज्यादा लग गया चंदन तो क्या कोई दूसरा अपने मस्तक पर लगाने को तैयार हो सकता है? नहीं हो सकता है। तो चंदन जैसा पवित्र पदार्थ भी शरीर का स्पर्श होने से अपवित्र हो गया। किसी के शरीर में तैल मालिश की जा रही है, किसी जगह अधिक लग जाय तो क्या दूसरा पुरुष उसके तैल को छुड़ाकर अपने शरीर में लगाना पसंद करेगा? नहीं करेगा। तो तैल शरीर का स्पर्श पाकर अपवित्र हो सकता है तो अन्य की क्या बात है। अगर किसी के गले में फूलों का हार डाल दिया गया हो और दूसरों को विदित हो जाय कि यह माला इसने पहनी है तो कोई भी व्यक्ति उसे पहनना पसंद नहीं करेगा। इस शरीर से सम्बन्ध हो जाने पर पवित्र पदार्थ

है यह शरीर फिर भी इस जीव को शरीर से ग्लानि नहीं होती, यह आश्चर्य की बात है। शरीर की सेवा पोषण के लिए ही इस जीव का ममत्व बना रहता है। यह कितने खेद की बात है? शरीर में आत्मा में स्वभाव-भेद का कितना अंतर है। कहाँ तो यह आत्मा आकाशवत् अमूर्त निर्लेप किन्तु चैतन्य गुण से विशिष्ट पावन ज्ञाता-द्रष्टा, कहाँ तो इसका ऐसा पवित्र स्वभाव और कहाँ शरीर ऐसा अपवित्र जो मांस, रूधिर, मल, मूत्रादिक की थैली ही है।

अष्टावक्र जब राजा जनक के दरबार में पहुँचे तो उनके आठ विकृत (टेढ़े) शरीर को देखकर सभी सभासद हँसने लगे। अष्टावक्र बोले-ये सब हँसने वाले चमार हैं, क्योंकि ये मेरे चमड़े का मूल्य आँक रहे हैं, मेरा नहीं। सत्य है-

चंदन पड़े चमार घर, प्रतिदिन कूटे चाम।
चंदन बेचारा क्या करे, पड़े नीचे के धाम।

चमार, चंदन की लकड़ी से चड़ा कूटता है क्योंकि दृष्टि में चंदन का कोई महत्त्व नहीं है, चमड़े का महत्त्व है।

हम सब चमार हैं। इस हड्डी-चमड़े की सेवा में ही लगे रहते हैं, परमात्मा के लिए क्षणभर भी समय नहीं निकालते हैं। हम किसी के रूप का, चमड़े का उपहास न करें, चमड़े को लक्ष्य रखकर चलने वाला चमार है। आत्मा को लक्ष्य रखकर चलने वाला परमात्मा है। इस शरीर की अपवित्रता के सम्बन्ध में इस प्रकार प. दौलतरामजी ने लिखा है-

पल रुधिर राध मल थैली, किकस वसादि तै मैली।
नव द्वार वहै घिनकारी, अस देह करे किम यारी ।६।

कफ और चर्बी आदि से मैली यह मांस, खून एवं पीप रूपी मल की थैली है। इसकी आँखे, कान, नाक, मुँहादि नौ द्वारों से निरन्तर घृणास्पद मैले पदार्थ बहते रहते हैं। हे आत्मन ! तू ऐसे घृणास्पद शरीर से यारी (मित्रता, स्नेह) क्यों करता है? इसी संदर्भ में पं. भूधरदासजी की पार्श्व पुराण में निम्नांकित पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं :

देह अपावन अथिर घिनावन, यामै सार न कोई।
सागर के जल सौं शुचि कीजे, तो भी शुद्ध न होई।

सात कु धातमयी मल मूरत, चाम लपेटी सो है।
अन्तर देखत या सम जग में, अवर अपावन को है।
नव मलद्वार स्रवैं निशि-वासर, नाम लिए घिन आवै।
व्याधि उपाधि अनेक जहाँ तहँ, कौन सुधी सुख पावै।
पोषत तो दुःख दोष करै अति, सोषित सुख उप जावै।
दुर्जन देह स्वभाव न याको, विश्जन जोग सही है।
यह तन पाय महातप कीजे, यामै सार यही है।

यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, अस्थिर है, घिनावनी है, इसमें रंचमात्र भी सार नहीं है। सागरों के जल से धोये जाने पर भी शुद्ध होने वाली नहीं है। चमड़े में लिपटा शोभायमान दिखने वाला यह शरीर सात कुधातुओं से भरी हुई मल की मूर्ति ही है, क्योंकि अन्तर में देखने पर पता चलता है कि इसके समान अपवित्र अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

इसके नव द्वारों से दिन-रात ऐसा मैल बहता रहता है, जिसके नाम लेने से ही घृणा उत्पन्न होती है। जिसे अनेक व्याधियाँ निरन्तर लगी रहती हैं, उस शरीर में रहकर आजतक कौन मानवी सुखी हुआ है?

इस देह का स्वभाव दुर्जन के समान है, क्योंकि इसमें भी दुर्जन के समान पोषण करने पर दुःख और दोष उत्पन्न होते हैं और शोषण करने पर सुख उत्पन्न होता है। मूलाचार में आचार्य प्रवर ने अशुचि अनुप्रेक्षा को इस प्रकार दर्शाया है-

मंसट्ठिसिं भव सरु हिर चम्मपित्तंतमुत्त कुणि पकुड़िं।
बहुदुक्ख रोग भयाण सरीरम शुभं वियाणा हि ॥७२६॥
अत्थं कामं सरीरादियं पि सवभसुभत्ति णादूणं।
णिव्विज्जंतो झायतु जह जहासि कलेवरं असुहं ॥७२७॥

अर्थात् मांस, अस्थि, कफ, रुधिर, चर्म, पित्त, आँत, मूत्र इन अपवित्र पदार्थों की झोपड़ी रूप बहुत प्रकार के दुःख और रोगों के स्थान स्वरूप इस शरीर को अशुभ ही जानो। अर्थ, काम और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं। ऐसा लोक में जानकर उनसे निर्वेद को प्राप्त होते हुये ध्यान करो। अर्थात् जिस प्रकार से यह कुत्सित शरीर छोड़ सकते हो, उसी प्रकार से शरीर के वैराग्य का और संसार, के वैराग्य का अच्छी तरह से चिंतवन करो। इस शरीर की अपवित्रता एवं अस्थिरता का आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन

में इसप्रकार किया है।

हे आत्मन् ! तू स्वभाव से शुद्ध, समस्त विषयों का ज्ञाता और रूप-रसादि से रहित (अमूर्तिक) हो करके भी इस शरीर के द्वारा अतिशय, अपवित्र किया गया है। ठीक है वह मूर्तिक, सदा अपवित्र और जड़ शरीर यहाँ कौनसी पवित्र वस्तु (गंध विलेपनादि) को मलिन नहीं करता है। इसलिए तेरा कर्तव्य है कि उक्त शरीर के विषय में प्रथम तो ''यह अपवित्र है।'' ऐसे सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करें। इस प्रकार से शरीर के निमित्त से जो दुःख सह रहा था उससे छुटकारा पा जाऐगा। जिस प्रकार स्थिर नाव में बैठे हुए मनुष्य को नदी में जल के बढ़ जाने पर भी किसी प्रकार का खेद नहीं होता है। कारण कि वह यह समझता है कि नदी के जल में वृद्धि होने पर भी मैं इस नाव के सहारे उस पार जा पहुँचूंगा। ठीक उसी प्रकार से जिस को शरीर का स्वभाव ज्ञात हो चुका है कि यह शरीर अपवित्र, रोगादिकों का घर तथा नश्वर है। वह विवेकी साधु उक्त शरीर में कठिन रोग व्याप्त हो जाने पर किसी प्रकार से खेद को नहीं प्राप्त होता है। रोग के उत्पन्न होने पर उसका औषधि के द्वारा प्रतिकार करके उस शरीर में स्थित रहना चाहिए। परन्तु यदि रोग असाध्य हो तो फिर उस शरीर को छोड़ देना चाहिए, यह दूसरी अवस्था है। जैसे-यदि घर-अग्नि से व्याप्त हो चुका है तो यथा सम्भव उस अग्नि को बुझाकर प्राणी उस घर में रहता है। परन्तु यदि वह अग्नि नहीं बुझाई जा सकती है तो उसमें रहने वाले प्राणी उस घर से निकलकर चले जाते हैं। क्या कोई बुद्धिमान प्राणी उस जलते हुये घर में रहता है? कदापि नहीं रहता है।

जिस प्रकार कोई मनुष्य सिर के ऊपर रखे हुए बोझ से पीड़ित होता हुआ उसे प्रयत्न पूर्वक सिर से उतारकर कंधे पर रख लेता है और ऐसा करने से उसके कष्ट में कुछ थोड़ी सी कमी अवश्य हुई है। परन्तु वास्तव में इससे सुख का लेश भी नहीं प्राप्त हुआ है। ठीक इसी प्रकार से यह अविवेकी प्राणी भी शरीर में उत्पन्न हुए रोग को यथा योग्य औषधि आदि से नष्ट करके अपने को सुखी मानता है। परन्तु वह यह नहीं सोचता है कि रोगों का घर जो शरीर है उसका संयोग तो अभी भी बना है, ऐसी अवस्था में सुख भला कैसे प्राप्त हो सकता है? सच्चा सुख तो तब ही प्राप्त हो सकेगा जबकि उसका शरीर के साथ सदा के लिए सम्बन्ध छूट जायेगा वह सुख

की कल्पना करता है।

जीव जब संयम और तपादि को धारण करता है। इस तरह उस शरीर को देव-मनुष्यादि के द्वारा पूज्य बनाकर आत्मा तो उसका उपकार करती है, परन्तु यह शरीर कृतघ्न होकर उस उपकारी आत्मा के साथ इतना दुष्टतापूर्ण आचरण करता है कि उसे निंध पर्याय में प्राप्त कराकर ऐसा हीन बना देता है कि विवेकी जन उसका स्पर्श भी नहीं करना चाहते हैं। ऐसे अहित का शरीर से ममत्व छोड़ देना चाहिए। यह मानव शरीर की नाशवान स्थिति को देखकर अनुराग कर रहा है ऐसी लम्पटता के साथ इस देह में ममता कर रहा कि मानों इससे पहले कभी शरीर पाया ही न हो। ऐसा समझकर बड़े आदर से इस देह की रक्षा करता है। देहों की अवगाहन जघन्य इस प्रकार बतायी गई है-अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण। अब आप समझिये कि एक अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण कितना बड़ा हिस्सा होगा। इतने अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण वाले जीव होते हैं। वह इतना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध पर्याप्तक जीव होते हैं और उत्कृष्ट काय है एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५ योजन मोटा महामत्स्य है जो कि स्वयंभूरमण समुद्र में पड़ा रहता है। अब इस जघन्य प्रमाण के शरीर से लेकर उत्कृष्ट प्रमाण तक एक-एक प्रदेश बढ़ा-बढ़ाकर आप अंदाज करें कि कितनी तरह के भेद की अवगाहना के शरीर होंगे? जैसे कोई वस्तु १ अंगुल की है वैसे कोई वस्तु १०० अंगुल की है तो एक-एक अंगुल बढ़ा-बढ़ाकर भीतर की वस्तुओं को देखा तो एक कम १०० तरह की अवगाहना के हुए ना तो इसी तरह सूक्ष्म निगोद लब्ध पर्याय के जघन्य शरीर में एक प्रदेश बढ़कर कोई अवगाहना है, यों एक-एक प्रदेश बढ़ा-बढ़ाकर उत्कृष्ट प्रमाण शरीर तक ले जाइये, इतनी अवगाहना तक के देह हम आपने अनन्त बार पाये हैं लेकिन यह जीवन आज के इस शरीर को पाकर मानता है कि हमने अपूर्व वस्तु पायी और ऐसा समझकर इसमें मोह करता है.

यह बात बहुत बार प्रयोग में आती रहती है कि शरीर कितना गंदा है? कहीं रक्त प्रवाह में बाधा आये तो वहाँ से पीप निकलता है। उसे देखा नहीं जाता है। प्रिय-से-प्रिय हो कोई तो वे लोग देखने में घृणा करते हैं। तो यह सारा शरीर ही ऐसा बना हुआ है। केवल इस पर चाम की चादर मढ़ी है सो सब गंदगियाँ ढँकी है। अगर इस शरीर के ऊपर की चाम की चादर हट

जाय तो इस शरीर की सारी अपवित्रताएँ स्पष्ट विदित हो जायें। यह शरीर महा अपवित्र है, ऐसा जानकर इस शरीर के भीतर की गंदगी को परखकर दूसरे के शरीर से अनुराग, काम, भावना, त्याग कर दें। इसी विषय में चर्चा करते हुए आचार्य प्रवर "पद्मनंदी पंचविशति"में निम्नांकित छन्द दृष्टव्य है-

यूका धाम कचाः कपालमजिनाच्छन्नं मुख योषितां॥
तच्छिद्रे नयने कुचौ पल भरौ बाहू तते कीकसे।
तुन्द मूत्रमलादिसद्म जघनं प्रस्यन्दिवर्चोगृहं।
पादस्थूलणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते ॥१५॥

जिनके बाल जुओं के घर हैं, कपाल और चेहरा चमड़े से आच्छादित हैं, दोनों नेत्र उस चेहरे पर छिद्र हैं, दोनों स्तन मांस से भरे हुए हैं दोनों भुजाएँ हड्डियाँ हैं, उदर मल-मूत्रादि स्थान है, जंघा प्रदेश बहते, स्त्रियों का ऐसा यह अपवित्र शरीर क्या महान पुरुषों के लिए अनुराग का हो सकता है? कदापि नहीं। यद्यपि उक्त सम्पूर्ण कथन स्त्री शरीर को लक्ष्य में लेकर किया गया है, तथापि इसका आशय यह नहीं है कि पुरुष शरीर पवित्र होता है। पुरुष शरीर भी स्त्री के समान ही मल-मूत्र का घर एवं रक्त माँस और हड्डियों का पिण्ड है।

जब भी शरीर को देखें तो जैसे ऊपर से चाम दिखता है तो भी भीतर की गंदगियों का भी तो ज्ञान बनायें कि ऐसा यह गंदा शरीर है। यह मानव किससे प्रेम करता है पहले तो इसका यही निर्णय नहीं है। शरीर से प्रेम करता हो तो जीव के शरीर से अलग हो जाने पर याने दूसरे भव में चले जाने पर इस मृत शरीर से क्यों अनुराग नहीं करता? जीव से अनुराग तो बिलकुल नहीं करता? कौन यह निरखता है कि इसमें अमूर्त चैतन्यमात्र जो आत्मा है उस आत्मा से मैं प्रीति करता हूँ? अरे ऐसी आत्मा तो सब जीवों में समान रूप से हैं, फिर अन्य सारे अनन्त जीवों को छोड़कर उस एक ही जीव में अनुराग क्यों? तो यह मनुष्य जीव से प्रेम नहीं करता, शरीर से भी प्रेम नही करता, लेकिन कल्पना में ऐसा मुग्ध हुआ है कि इन भव मूर्तियों में अनुराग किए बिना रह नहीं पाता। यह मनुष्य जन्म को व्यर्थ गँवाने की बात है। देह आत्म बुद्धि छूट जाय तो उसका सब मार्ग साफ हो जायेगा।

एक बार किसी फकीर को रास्ते में एक पैसा मिला तो उसने उठा तो

लिया पर सोचा कि यह पैसा किसको दिया जाय? जो अधिक से अधिक गरीब हो उसको दिया जाय। अब जब सब से गरीब को ढूँढने के लिए चला तो उसे कोई ज्यादा गरीब नजर नहीं आया क्योंकि गरीब लोग कुछ धन वैभव में कम होने पर भी सन्तोष का आश्रय ज्यादा रखते हैं, तो उसे अधिकांश लोग संतुष्ट दिखे, ज्यादा से ज्यादा गरीब कोई न दिखा।

एक बार कोई बादशाह अपनी सेना सजाकर खुद हाथी पर बैठा हुआ किसी छोटे राजा का राज्य हड़पने के लिए चढ़ाई करने जा रहा था। फकीर ने किसी व्यक्ति से पूछा कि यह कौन जा रहा है? उत्तर मिला-बादशाह। किसलिए जा रहा है? किसी राजा का राज्य छीनने के लिए। अब उस फकीर ने सोचा कि इससे अधिक गरीब और कौन मिलेगा? इसी को यह पैसा दे देना चाहिए। फकीर ने वह पैसा बादशाह की गोद में डाल दिया। बादशाह उस फकीर पर कुछ गुस्सा हुआ और पूछा- क्यों फकीर यह तुमने क्या किया? तो वह फकीर बोला कि हमें यह पैसा रास्ते में मिला था। हमने सोचा था कि यह पैसा उसे देंगे जो अत्यन्त गरीब होगा। आप हमें अत्यन्त गरीब दिखे इसलिए हमने यह पैसा आपको दे दिया। तो बादशाह बोला-हम गरीब कैसे? हम तो बहुत बड़े राजपाट के स्वामी हैं, हमारे पास बहुत बड़ी सेना है, बड़ा वैभव है। तो फकीर ने कहा महाराज! यदि आप गरीब न होते तो किसी छोटे राजा का राज्य छीनते क्यों? आपने यह अनुभव किया है कि मेरे पास वैभव कम है, आपको वैभव की तृष्णा है तो आप गरीब ही हैं। फकीर की इस बात ने बादशाह को वापिस लौट चलने का आदेश दिया। तात्पर्य यह है कि धन न होने का नाम गरीबी नहीं, किन्तु बाह्य पदार्थों से तृष्णा बढ़ाने का नाम गरीबी है।

इस अपवित्र देह का रक्षण करने के लिए तृष्णा बढ़ाने का अर्थ है नरक द्वारा खोलना। बुद्धिमानी इसमें ही है कि शरीर को जितनी सामग्री चाहिए उतना रखे। जैसे गन्ना होता है, उसके नीचे के कुछ पोर जिनमें जड़ें होती हैं, जो बहुत कड़े भी होते हैं वे खाने योग्य नहीं होते हैं, गन्ने के ऊपर के कुछ पोर नीरस होने से खाने योग्य नहीं रहते। कोई विवेकी पुरुष उस गन्ने को कुछ खाकर यों ही फेंक देने के बजाय उसको जमीन में बो देता है तो उससे अनेक गन्ने प्राप्त कर सकता है। किन्तु रसासक्त पुरुष उस काने गन्ने को चूँसकर अपनी व गन्ने की बरबादी कर देता है। ठीक इसी प्रकार

बाल्य काल में तो यह मानव धर्मबुद्धि जागृत नहीं करता है। और वृद्धावस्था भी मृतक के समान है। जीवन के बीच की जो युवावस्था है उसे मानव विषय भोग में लगा देता है। इस प्रकार मोही प्राणी मानव जीवन को व्यर्थ ही खो देता है। कोई विवेकी पुरुष इस जीवन को व्यर्थ में न खोकर इसका सदुपयोग कर ले। कुछ साधना कर ले, कुछ ज्ञानार्जन करे तो भव-भव की कर्म निर्जरा हो जाय। इसमें विवेक है, पर काने गन्ने की भाँति यों ही विषय भोगों में देह का लगाव कोई बुद्धिमानी नहीं है। इसी बात को पं. मंगतरामजी ने बारह भावना में दर्शाया है-

तू नित पोखे यह सूखै ज्यों धोवें त्यों मैली।
निश दिन करै उपाय देह का रोग दशा फैली।
मात पिता रज वीरज मिलकर बनी देह तेरी।
हाड़ मांस नश लहू राध की प्रगट व्याधि घेरी।
काना पौड़ा पड़ा हाथ यह चूसे तो रोवे।
केसर चंदन पुष्प सुगंधित, वस्तु देख सारी।
देह परस तें होय अपावन निशदिन मल जारी।

भाग्य ने तो मनुष्यों का अपवित्र शरीर इसलिए बनाया मानों कि यह मनुष्य वैराग्य के कार्य में लग जाय। यह मनुष्य इस अशुचि देह को निरखकर इससे विरक्त हो और मोक्ष मार्ग में लग जाय, मानो इसीलिए ही भाग्य ने मनुष्य का ऐसा गंदा शरीर बनाया है। गंदा ही नहीं किन्तु सार हीन भी, लोक में किसी के कुछ भी काम न आने वाला ऐसा असार अपवित्र शरीर तो वैराग्य कार्य में लगाने के लिए बनाया, लेकिन यह मानव इसी अशुचि शरीर में अनुरक्त होता है, जहाँ इष्ट वियोग होता ही नहीं वहाँ से मुक्ति नहीं होती, जैसे भोग भूमि का क्षेत्र। वहाँ स्त्री पुरुष हमेशा रहते हैं, उनको कभी वियोग नहीं होता और जब संतान होती है तो वे भी जुगलिया होते हैं। दोनों बच्चा-बच्ची उत्पन्न हुए कि तत्काल ही पुरुष और स्त्री एक साथ मर जाते हैं। न संतान ने पिता और माता को देखा, नहीं माता और पिता ने संतान को देखा। उन संतानों को माता और पिता के न होने का कोई क्लेश नहीं है क्योंकि प्रकृत्या वहाँ अँगूठा चूसकर वे पुष्ट होते हैं, ४९दिन में वे युवा हो जाते हैं। माता-पिता का संतान से मोह के अभाव में इष्ट वियोग नहीं होता। तो यह देह को अपवित्र भाग्य ने इसलिए बनाया है कि यह जीव इस शरीर की स्थिति को देखकर विरक्त हो जाय,

लेकिन यह मोही प्राणी इतना प्रबल आसक्त है कि यह ऐसे अपवित्र शरीर में अनुरक्त होता है।

जीव का स्वरूप तो ज्ञान और आनन्दमय है। जैसे बाहरी पदार्थों में देखते हैं न, चौकी का क्या स्वरूप है? जो यह दिखने में आया, उठाने में आया यही तो इस चौकी का स्वरूप है। ऐसे ही जीव का क्या स्वरूप है? जीव एक आकाश की तरह अमूर्त पदार्थ है, उसमें ज्ञान और आनन्द स्वभाव पड़ा हुआ है। यह कह लीजिए कि ज्ञानानन्द स्वभावी जीव में अपने आप कोई क्लेश नहीं है। कोई दुःख का कारण नहीं, कोई विडम्बना नहीं बना सकता। जैसे पानी गर्म किया गया, खौल गया तो यह बात किसी दूसरे जीव के सम्बन्ध से ही तो हुई है। पानी में अगर किन्हीं दूसरी वस्तुओं का सम्बन्ध न हो तो जल न रंगीन बने न गर्म बने। जल के जो अनेक विचित्र परिणमन बनते हैं वे किसी दूसरे के सम्बन्ध से ही बनते हैं। हालांकि जीव की विडम्बना जीव में ही है दूसरे में नहीं लेकिन पर उपाधि बिना विडम्बना नहीं बनती है। जैसे स्फटिक मणि अपने आप लाल-पीला आदि रूप नहीं बनता है।

वह तो स्वच्छ है, अपने ही स्वभाव की ओर से, केवल अपने ही कारण से, दूसरे का सम्बन्ध मिले बिना वह लाल पीला आदि नहीं होता। जिस रंग का आवरण उस स्फटिक के सामने आता है उस तरह का रंग उसमें हो जाता है। यह बात समझने की है।

एक कवि ने इसमें भगवान निवास करता है। अतः उसकी आराधना के लिए प्रेरणा दी है-

तनु जिन मन्दिर, मनकमलासन, त्यावरी चिन्मयतुंग,
यज निजपद कमला निःसंग।
ज्ञानगंगा जलि क्षलोनि निर्मल, संचित पात भंग ।
यज जिन पद कमला निःसंग।

हे तपस्वी! तेरा शरीर ही मंदिर है, उसमें मन वेदी है और मन पर बैठा तेरी आत्मा परमात्मा है। उसको ज्ञान रूपी गंजाजल से प्रक्षालित करो। इसी से सब पाप नष्ट हो जायेंगे। सभी भव्यजन शरीर की अशुचित, अपवित्रता, एवं नित्यता को जानकर इससे निवृत्त होकर आत्म की शुचिता, पवित्रता में रत हों। इसी पावन भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ। ॐ नमः॥

7 आस्रवानुप्रेक्षा

कर्मागमन का द्वार

7 आस्रवानुप्रेक्षा

शरीरादि की भाँति ये आस्रव भी क्षण भंगुर हैं, असहाय हैं, अशुद्ध हैं, स्वभाव से भिन्न हैं, संसार में परिभ्रमण के कारण हैं, कष्ट रूप हैं, दुःख के कारण हैं, मूलभूत जड़ हैं। इनसे पृथक् अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड रूप आत्मा नित्य है, परम शरण है और चर्तुगति परिभ्रमण से रहित परम पवित्र आनन्द का कन्द है। इस प्रकार का चिन्तवन करना और तद्रूप आचरण करना ही आस्रव अनुप्रेक्षा है।

स्रव का अर्थ है बहना, स्रवति का अर्थ है बहता है, सरकना, स्थान से स्थानान्तर हो जाना और स्रव धातु के आरम्भ (पूर्व) में "आ" उपसर्ग लगने से आस्रव शब्द बना है। जैसे गच्छति का अर्थ है जाना, और आगच्छति

का अर्थ है आना। नयति का तात्पर्य है ले जाना और आनियत का अर्थ ले आना, अतः "आ" उपसर्ग लग जाने से धातु का अर्थ विपरीत हो जाता है जैसे दान और आदान, ठीक इसी प्रकार स्रव का अर्थ है बहना और स्रव धातु में आ उपसर्ग लगने से आस्रव हुआ। आस्रव का अर्थ है आना। आचार्यों ने आस्रव के दो भेद बताये 1. भावास्रव 2. द्रव्यास्रव। जिसके माध्यम से कर्मवर्गणा आते हैं उसे भावास्रव कहते हैं। कर्मवर्गणाओं के आने का नाम द्रव्यास्रव है। पाठकगण को प्रश्न हो सकता है कि आस्रव किसे कहते हैं?

इसी प्रश्न के उत्तर में आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में लिखते हैं-

काय वाङ् मनः कर्म योगाः।

मन, वचन, काय इन तीनों का योग है "सःअस्रवः" वह आस्रव है। अर्थात् इन तीनों के संयोग से कर्म का आस्रव होता है। इन तीनों की मित्रता से जो स्पंदन होता है वह आस्रव में कारण है। उन्होंने (उमास्वामी ने) बहुत गहरे चिन्तन के उपरान्त यह रखा है। अभी तक कई लोगों की धारणा है कि कर्म के उदय से आस्रव होता है किन्तु आचार्य प्रवर के सूत्र से यह फलित होता है कि आस्रव धर्म की देन नहीं है, आत्मा की अनन्य शक्ति (योग) की देन है।

हम जो मन से बहुत यहाँ वहाँ चित्त डुलाते हैं यश, तृष्णा, राग, अनुराग, मोहादिक में इस चित्त को फँसाये रहते हैं, तो चित्त की यह स्वच्छन्दता कर्मों का आस्रव कराती है। वचन का हम अधिक प्रयोग करते हैं, बिना अवसर बोलते हैं, बोलते रहते हैं या बोलते ही हैं तो वचन बोलने में जो परिस्पन्दन होता है उससे कर्म आते हैं। इसी प्रकार शरीर के चलने की प्रवृत्ति से कर्मों का आगमन होता है। यद्यपि हम और आप वर्तमान समय में योग को पूर्णरूप से रोकने में समर्थ नहीं हैं फिर यह ध्यान में लायें कि योग से कर्मों का आस्रव होता है। अतः योग की जो स्वच्छन्द प्रवृत्ति है इसको रोके और शुभ कार्य में धर्म कार्य में लगायें जिससे पापास्रव रूके और पुण्यास्रव हो। महानुभावो! योग किसी कर्म की देन नहीं है वह न क्षायिकभाव में आता है न क्षायोपशमिक भाव में आता है और न ही औदायिक भाव में आता है किन्तु पारिणामिक भाव में यह योग आता है। पारिणामिक भाव द्रव्य से द्रव्यान्तर नहीं होता है। "परिणामे भवः पारिणामिकः" उसे किसी कर्म की जरूरत नहीं है।

पाठकगण अब यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि महाराज! हमने पारिणामिक भाव तो तीन होते हैं, यह पढ़ा था पर आप ये चौथा कहाँ से लाये? क्या आपका कोई ग्रन्थ अलग से है? नहीं ! आप धवला ग्रन्थ का अध्ययन करेंगे तो स्पष्ट हो जायेगा कि योग पारिणामिक भाव के अन्तर्गत है। पाठकगण को यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह आत्मा का ही एक मनचलापन है जो कर्म वर्गणाओं को खींचता है। चाहे शुभ को खींचे, चाहे अशुभ को। अशुभ योग जब रहेगा तब तक अशुभ कर्मों का आस्रव होगा और जब शुभयोग होगा तो शुभ कर्म प्रकृतियों का आस्रव होगा। ध्यान रहे योग जब तक विद्यमान रहेगा तब तक आस्रव करायेगा। योग कर्म की देन नहीं। पाठक गण। यह एक नई उपलब्धि हुई है, एक स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान हुआ है।

धवलाकार ने कहा है यह योग पारिणामिक भाव है पर आत्मा का पारिणामिक भाव होते हुए यह ध्यान रखना, आत्मा के साथ त्रैकालिक सम्बन्ध रखा जावे यह नियम नहीं है। कई पारिणामिक भाव होतें हैं, जिनका आत्मा के साथ सम्बन्ध त्रैकालिक नहीं होता। जैसे अग्नि है और अग्नि में धुँआ। धुआँ से अलग और पदार्थ से निकलता हो ऐसी बात नहीं है लेकिन वह अग्नि में से निकलता है और वह अग्नि अशुद्ध अग्नि नाम पाती है जिसमें से वह धुँआ उठता है। लेकिन एक बार वह शुद्ध अग्नि बन जाये तो फिर धुँआ नहीं निकलेगा। निर्धूम अग्नि का भी प्रकरण प्रमेय कमल मार्तण्ड आदि न्याय ग्रंथों में पाया जाता है। ''यत्र-यत्र धूम-स्तत्र-तत्र वह्नि अस्ति एवं'' जहाँ-जहाँ धुँआ होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी, परन्तु जहाँ अग्नि हो वहाँ धुँआ हो यह नियम नहीं है। हो भी, न भी हो क्योंकि अग्नि धुँआ से रहित भी होती है, सहित भी।

निर्धूम अग्नि स्वाभाविक अग्नि है और सधूम अग्नि वैभाविक अग्नि है। जैसे उस अग्नि में से धुँआ निकल रहा है वैसे ही आत्मा के अन्दर कुछ ऐसे परिणाम हैं जो विकृत है और कर्म की अपेक्षा नहीं रखते हैं और कुछ ऐसी भी हैं जो स्वभाविक हैं। लेकिन जब स्वाभाविक शक्ति होगी तब वैभाविक शक्ति नही है और जब वैभाविक शक्ति होगी तो स्वाभाविक शक्ति नहीं रहेगी।

योग आत्मा की वैभाविक शक्ति का परिस्फुटन है जिसके माध्यम से आत्मा के एक-एक प्रदेश के अनंतानंत कर्म परमाणु आकर चिपक रहे हैं।

यह किसी कर्म की वजह से नहीं है, यह योग का करिश्मा है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में एक सूत्र में यह दिखाया है कि आस्रव दो तरह के होते हैं- **"शुभः पुण्य-स्याशुभः पापस्य"** शुभ भाव से पुण्यास्रव होता है, और अशुभ भाव से अशुभ आस्रव होता है और मंदकषाय होने से शुभास्रव होता है। तीव्र कषाय होने से अशुभ आस्रव होता है। अर्थात् तीव्र कषाय सहित परिणाम अशुभ में यानी पापास्रव में कारण है, और मंद कषाय युक्त परिणाम शुभ में अर्थात् पुण्यास्रव में कारण है।

यहाँ पर पाठकगणों को यह प्रश्न हो सकता है कि हमने तो आगम में पढ़ा है कि आस्रव सर्वथा हेय कहाँ है वह संसार का ही कारण है, इसलिए चाहे शुभ (पुण्य) हो या अशुभ (पाप) दोनों ही हेय हैं? बात ठीक है मैंने भी आगम में पढ़ा है, देखा है, सुना है कि आस्रव हेय है लेकिन आप यहीं तक पढ़कर रुक गये हैं और मैंने इससे भी आगे आगम को पढ़ा, लिखा, सुना है। आगम में अशुभास्रव को सर्वथा हेय कहा गया है लेकिन शुभास्रव को किसी अपेक्षा से उपादेय भी माना है।

तृतीय शुक्ल ध्यान के बिना योग निरोध को प्राप्त नहीं होता, उसका निग्रह नहीं तब तक शुभ (पुण्य) का आस्रव निश्चित होगा, होगा, होगा। इसलिए आचार्यों ने कहा कि पुण्य से मत डरो, किन्तु उसके फल से डरो, और जो पुण्य से डरता है वह अज्ञानी है, उसने शायद आगम को अच्छी तरह से नहीं पढ़ा। आचार्य नेमीचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती ने पुण्य की परिभाषा इसप्रकार की है। **"पुनाति आत्मा नम् इति पुण्यम्'** ॥

आत्मा को अगर पवित्र करने के लिए कोई साधन है तो वह पुण्य ही है। पुण्य के द्वारा केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, लेकिन केवल पुण्य ही होना चाहिए। केवल "ज्ञान" जैसे आप लोग कहते वैसा ही केवल "पुण्य" जिस समय आत्मा होगी उसी समय अंतर्मुहूर्त पश्चात् आत्मा परमात्मा बन जायेगी।

जिस समय यथाख्यात चारित्र जीवन में आता है ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में ज्यों ही वह (यथाख्यातचारित्र) प्राप्त होता है त्यों ही मात्र पुण्य का ही आस्रव होता है। मात्र पुण्यास्रव अंतर्मुहूर्त पर्याप्त है, आत्मा को केवल ज्ञान प्राप्त कराने में, लेकिन पाप का पूर्ण रूप से निषेध है। यह अवसर दसवें गुणस्थान के पहले नहीं आ सकता है, दसवें गुणस्थान के बाद होता है। अब इसके उपरान्त मात्र पुण्य जो है वही उस आत्मा को

पाप से बचा सकता है, किन्तु पुण्य को हटाने वाला कौन? पुण्य के फल को हटाने वाला तो संयम है। पर संयम पुण्य को नहीं हटा सकता। इसीलिए आचार्यों ने पंचेनिन्द्रय के विषय को विष्टा कहा है, पुण्य को विष्टा नहीं कहा है। यदि पुण्य को विष्टा कह दें तो केवली भगवान भी विष्टा से लिप्त हो जायेंगे और यह तो आगम का अवर्णवाद है, एक प्रकार अवज्ञा, अनादर है। हाँ पुण्य में जो इच्छा करता है वह इच्छा है विष्टा, पुण्य विष्टा नहीं है ध्यान रखो। सबसे ज्यादा पुण्य का आस्रव होता है तो यथाख्यात चारित्र के उपरान्त ही, जो केवली भगवान है उनको होता है, किन्तु वे "**निरीहवृत्तीत्त्वात्**"-निरीह वृत्ति होने के कारण उसमें रचते-पचते नहीं है, रमते नहीं हैं। दुनिया का ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो इतना पुण्य प्राप्त कर ले। और उनको भी यह चिंता हुई (आपके समान नहीं है) कि यह आस्रव कम से कम पुण्य के रूप में तो आ ही रहा है और आत्माके एक-एक प्रदेश से टकरा रहा है इसे भी कैसे हटा दिया जाये। वह कौन सी प्रक्रिया है? वह कौन सी शक्ति है? जिसके माध्यम से इसे रोक दूँ तो उन्होंने तृतीय शुक्ल ध्यान का प्रयोग किया। उस समय शुभ का आस्रव रुक जाता है। पुण्य कहता है अब तो आपने बिल्कुल ही दरवाजा बन्द कर दिया, आगे का दरवाजा भी बन्द कर दिया और पीछे का दरवाजा भी बन्द कर दिया, बिल्कुल ही लाक-आउट कर लिया अपने आप में।

आत्मा से जिस समय योग का निग्रह होता है तो पुण्य का आस्रव भी बन्द हो जाता है। उस आस्रव का होना रुक जाता है और ज्यों ही आस्रव होना रुक जाता है। चौदहवें गुणस्थान में यूँ ही छलाँग मारते हो, वह रुकता नहीं है। यूँ करके बस यूँ ही पहुँच जाते हैं। पुण्य के आस्रव के उपरान्त संसार की स्थिति मात्र अ, इ, उ, ऋ, लृ पंच लघु स्वर अक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल शेष रह जाती है और वह मुक्ति के भाजन हो जाते हैं। अब यहाँ योग का अभाव हुआ किन्तु ४ कर्म शेष रहे यह ध्यान रखना। कर्म का उदय संसार में जकड़ नहीं सकता, कर्म का उदय आत्मा में किसी प्रकार से अपना प्रतिबिम्ब, अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। अतः भव्य जीवों, पुण्य को हेय मत जानो, उसे विष्टा मत कहो, पंचेन्द्रिय सुख को हेय मानो, उसे विष्टा के समान समझो, जो प्राणी पुण्य को विष्टा एवं हेय मानता है वह अज्ञानी, महामूर्ख है।

मुझे सीता के जीवन की घटना याद आती है:

सीता को रावण हरण करके ले गया था। अशोक वाटिका में सीता के रहने की सुन्दर व्यवस्था कर दी थी। सीता अशोकवाटिका में बैठी-बैठी आसूँ बहा रही है। अचानक मन्दोदरी आ जाती है और अत्यन्त स्नेह से सीता से कहती है, रावण को स्वीकार कर लो। तुम पटरानी बन जाओगी। रावण को तुमसे बहुत प्रेम है सीता। तब सीता ने कहा एक सती के मुख से दूसरी सती के लिए ऐसी कुशिक्षा शोभा नहीं देती बहन। तुम भी तो किसी की पत्नी हो, क्या तुम परपुरुष को स्वीकार कर सकती हो? याद रखो, मन्दोदरी, सीता काँच की चूड़ियों के समान इतनी नाजुक नहीं है कि आपत्ति की जरासी आँधी के धक्के से टूट जाए, सीता कोई मोम की गुड़िया नहीं है जो वासना की आग को देख, पिघल जाए। सीता अपने सतीत्व की रक्षा करना अच्छी तरह से जानती है, मेरी सतीत्व की अग्नि से अपने सुहाग की रक्षा करो। मंदोदरी, कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारा सुहाग उजड़ जाये। मैं स्वप्न में भी परपुरुष की कल्पना नहीं कर सकती, न कभी की है और न कभी करूँगी। एक स्त्री का आभूषण उसका शील होता है। एक स्त्री का धन उसका शील होता है और तुम उस धन को बेचने को कह रही हो, क्या तुम्हारे पास शील रूपी धन नहीं है। मंदोदरी ने आँखों में आँसुओं की अविरल धारा बहाते हुए कहा था-"बहन, तुमने मेरे नारीत्व को जगा दिया। मैं भूल में थी पति में सोयी थी, खोयी थी, विस्मृत थी। आज मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि जब तक मेरे घट में प्राण रहेंगे, मैं जिन्दा रहूँगी तब तक तुम्हारे सतीत्व की रक्षा करूँगी।"

एक सती ने दूसरी सती को जगा दिया। एक सती को परपुरुष के चरणों में अर्पित नहीं कर सकती है। अब आप स्वयं सोचें क्या एक सम्यक् दृष्टि दूसरे सम्यग्दृष्टि से कभी यह कह सकता है कि पुण्य विष्ठा समान है?

आचार्य गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि विद्वान मनुष्य निश्चय से आत्म-परिणाम को ही पाप और पुण्य का कारण बतलाते हैं, इसलिए पाप का विरोध तथा पुण्य का उपार्जन करना चाहिए। हे भव्य प्राणी! तू पुण्य कार्य को कर, क्योंकि पुण्यवान प्राणी के ऊपर असाधारण उपद्रव भी कोई प्रभाव नहीं डालता है। पुण्य संचय बिना दीर्घ आयु, उत्तम शरीर, उत्तम कुल और उत्तम संहनन नहीं मिल सकेगा। इनके बिना मुक्ति कैसे संभव है? इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से मोक्ष का कारण है, मिथ्यादृष्टि का पुण्य नियम से संसार भ्रमण का कारण है। इसी भाव को आचार्य देवसेन ने

भाव संग्रह गाथा संख्या ४०४ में दिखाया है।

सम्मादिट्ठि पुण्णं ण होई, संसार कारणं नियमा।
मोक्खस्स होई देंउ, हेंउ, जइवि णियाणं ण सो कुणई ॥४०४॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं, नियम से मोक्ष का कारण बनता है और मिथ्यादृष्टि का पुण्य संसार को उच्छेद कारण न बनकर संसार का कारण बनता है।

आगम में आस्रव के दो भेद गिनाये हैं **"सकषा-या कषायोः साम्परायिकेर्यापथयोः"** एक कषाय सहित आस्रव आगम भाषा में साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथस्रव कहते हैं। अर्थात् कषाय से रहित आस्रव को ईर्यापथास्रव कहा है। ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर १३वें गुणस्थान तक मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है क्योंकि कषाय का तो अभाव है और योग को निकालना कोई अपने हाथ का काम तो नहीं है। जैसा कि पूर्व में मैंने कहा है कि -आस्रव में कारण योग है न कि कर्म का उदय। कर्मोदय में नियम से आस्रव हो ऐसा सिद्धान्त नहीं है। कदाचित् कर्म के अनुदय में भी कर्मका आस्रव होता है। कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव होताहै। जिसे अशुभ की कोटि में गिना है तथा कषाय रहित जीव को योनि मात्र योग से ईर्यापथ आस्रव होता है। जिसे शुभ के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। अब आप स्वयं सोचें तब विचार करें क्या आप शुभ साम्परायिक आस्रव से बच सकते हैं? नहीं! क्योंकि प्रथमगुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थानतक तो नियम से आस्रव होता है क्योंकि कषाय विद्यमान है। हाँ इतना अवश्य है कि सातवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक राग होताहै।

कषाय के साथ जो योग है उसी का आचार्यों ने एक दूसरा नाम रखा है लेश्या। कषाय के साथ अनुरंजित जो योग की प्रवृत्ति है वह है लेश्या। जैसा कि कहा भी है-

'कषाय अनुरंजित योग प्रवृत्तिः'

योग की प्रवृत्ति जब तक कषाय के साथ है तब तक वह अशुभ कर्मों का आस्रव कराने में कारण बन जाती है कोई भी कर्म किसी भी आस्रव के लिए कारण नहीं है। किन्तु कषाय जो आत्मा की परिणति है जो उपयोग के ही उथल-पुथल का नाम है, वहीं आस्रव का कारण है। आगम में लेश्या के छः भेद गिनाये हैं-

१-कृष्ण, २-नील, ३- कपोत ४-पीत, ५-पद्म, ६- शुक्ल,

(१) कृष्ण लेश्या -

आर्तरौद्रः सदाक्रोधी मत्सरो धर्मवर्जितः।
निर्दयो बैर संयुक्तो कृष्ण लेश्या युतो नरः ॥ १ ॥

आचार्य कहते हैं कि कृष्ण लेश्या वाले का मन हमेशा आर्तरौद्र ध्यान में रत रहता है। निकृष्ट विचारों से युक्त होता है। सदा क्रोध युक्त रहता है और कालान्तर में भी वैर विस्मरण नहीं करता है। धर्म का विरोधी होता है। क्रोधी और निर्दयी होने के कारण कृष्ण लेश्यावाला जीव स्वयं का एवं दूसरों का जीवन समाप्त कर लेता है।

(२) नील लेश्या -

आलस्यो मंद बुद्रिश्च स्त्रीलुब्धक प्रवंचकः॥
कातरश्च सदामानी नील लेश्यायुतो नरः ॥ २ ॥

नील लेश्यावाला प्राणी आलसी मंद-बुद्धिवाला होता है? मंद-बुद्धि के कारण धर्म की बात तो दूर कोई साधारण बात भी उसकी समझ में नहीं आती। नील लेश्यावाला प्राणी मान-कषाय जैसे कार्य के कारण ही उपद्रव, फूट, बैरादि उत्पन्न करता व कराता है।

(३) कपोत लेश्या -

शोककाकुलः सदारुष्ट पर निन्दात्मशंसक।
संग्रामे प्रार्थते मुत्यं कापोऽय मु दाहृतः ॥ ३ ॥

इस लेश्या के प्रभाव से प्राणी सदैव शोकाकुल प्रकृति वाला, सदा कष्ट सहने वाला, पर-निन्दक होता है छोटी-छोटी बात पर रोना, शोक निमग्न रहना, चाहे कितनी ही अनुकूलता क्यों न प्राप्त हो, फिर भी सदा दुःखी रहना ही लेश्यायें हैं, चतुर्गति भ्रमण का कारण है। कुगति की ओर ले जाने वाली है।

शेष तीन लेश्यायें शुभ हैं :-

(४) पीत लेश्या-

प्रबुद्धः करुणायुक्तः कार्याकार्य विचारकः।
लाभा लाभे सदाप्रीतः पीत लेश्या युतो नरः ॥ ४ ॥

इस लेश्यावाला मनुष्य सात्त्विक होता है, प्रबुद्ध करुणा युक्त होता है, प्रत्येक कार्य अकार्य को जानकर कार्य प्रारम्भ करता है और कार्य के हानि

एवं लाभ में समता भाव रखता है। करुणा से ओत-प्रोत होता है।

(५) पद्मलेश्या-

दयाशीलः सदा त्यागी देवतार्चनतत्परः
शुचिभूतः सदानन्दः पद्मलेश्यायुतोनरः ॥ ५ ॥

इस लेश्यावाला प्राणी ब्रह्मचर्य मय जीवन व्यतीत करता है। पद्मलेश्या वाला प्राणी भगवान के पूजन-अर्चन-दर्शन में पर्याप्त रुचि रखता है और आत्मा परमात्मा की बात को रुचि पूर्वक, श्रद्धापूर्वक सुनता है, मानता है।

(६) शुक्ल लेश्या -

राग द्वेष विनिर्मुक्तोः शोक निद्रावि वर्जितः।
परात्म भाव सम्पन्नः शुक्ल लेश्या युतो नरः ॥ ६ ॥

शुक्ल लेश्या वाला प्राणी शोक रहित होता है। शुक्ल लेश्या के धनी तीर्थंकर जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे वह वृक्ष ही "अशोक वृक्ष " कहलाने लगता है। अर्थात् "शोक रहित वृक्ष"। इस लेश्या वाले प्राणी को निद्रा भी कम आती है। शुक्ल लेश्या में वीतराग भाव प्रधान होता है।

आचार्य उमास्वामी ने ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र के आठवें अध्याय में आस्रव-द्वारों के बारे में जो बन्ध के लिए कारण हैं, उनका उल्लेख इस प्रकार किया है-

मिथ्या दर्शना विराति प्रमाद कषाय योगाः बंध हेतवः।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के आस्रव द्वार एवं बंध के कारण हैं।

एक कथा वेदान्त की जगदीशी टीका में लिखी है कि दो चींटियाँ थी, एक रहती थी, नमक की दुकान में और एक रहती थी शक्कर की दुकान में। एक बार शक्कर की दुकान में रहने वाली चींटी नमक की दुकान में रहने वाली चींटी के पास जाकर बोली, "बहन तुम प्रतिदिन यहाँ खारा खाना क्यों खाया करती हो? मैं तो प्रतिदिन मीठा खाना खाती हूँ। तुम मेरे साथ चलो, तुमको प्रतिदिन मीठा खाना खिलाऊँगी।" उस नमक की दुकान में रहनेवाली चींटी को पहले तो विश्वास न हुआ पर बहुत-बहुत कहने पर चलने को तैयार हो गई। वह चली मुख में एक नमक की डली दबाकर इसलिए कि कहीं वहाँ भूखों न मरना पड़े। जब शक्कर की दुकान में पहुँच

कर खाया तो शक्कर की दुकान में रहने वाली चींटी ने पूछा, "कहो बहन कुछ मीठा स्वाद आया या नहीं?" तो नमक की दुकान में रहने वाली चींटी बोली-हमें मीठा स्वाद तो नहीं आया। हमें तो वैसा ही खारा स्वाद आया। अरे अपनी चोंच में कुछ दबाये तो नहीं हो, हाँ एक दिन का कलेवा साथ में ले आई थी, वह दबाये हूँ। अरे! इस डली को मुख से बाहर निकाल, फिर स्वाद ले, तब देख स्वाद आता है कि नहीं ? उसने वैसा ही किया नमक की डली को मुख से निकाला फिर स्वाद लिया तो बड़ा मधुर स्वाद आया फिर वही नमक की डली में रहनेवाली चींटी पूछती है- बहन तुम इसप्रकार का स्वाद कब से ले रही हो यह तो बहुत ही मीठा है।

इस कथा का प्रयोजन यह है कि जब तक मिथ्यात्वादि अंतरंग से नहीं निकलेंगे तब तक आत्मा के मीठेपन का आनन्द नहीं आ सकता है। आचार्यों ने आस्रव के द्वारों में प्रथम द्वार मिथ्यात्व का रखा है जो कि सबसे ज्यादा खतरनाक मीठा चोर है। यह किसी को भी क्षणमात्र में अपना दास बना लेता है। वैसे इसका नाम भी बड़ा प्यारा है, मिथ का अर्थ है मिस MISS अर्थात् खोना। जिसने जीवन में समीचीन तत्त्वों को मिस कर दिया वही मिथ्यात्व। तत्त्वों को छोड़कर कुतत्त्वों में श्रद्धान करना, देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धा नहीं करना मिथ्यात्व है।

दूसरा आस्रव का द्वार है अविरति। अविरत के परिणाम २ प्रकार के हैं-स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों से विरक्त न होना तथा रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्रादिक के विषयों से विरक्त न होना। ये ६ हैं- विषय, अविरति और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति आदि ६ काय के जीवों की ही साँस विरति न हो। ये ६ काय अविरति हैं। ये सब अविरति के परिणाम हैं।

कषाय २५ प्रकार के हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। जो मिथ्यात्व को पुष्ट करें वे अनन्तानुबंधी कषायें हैं। किसी-किसी को तो धर्म के नाम पर भी क्रोध (द्वेष) रहता है, जरा-जरा सी बात में अनुकूल-प्रतिकूल मानकर अन्दर ही अन्दर वैर बनाये रखना। सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है। यों ही मान कषाय धर्म के नाम पर भी किन्हीं-किन्हीं की चलती है। व्यक्ति घमण्ड में आकर धर्म की आड़ लेकर अपना अभिमान पुष्ट करते हैं तो यह अनन्तानुबंधी मान है। इसी प्रकार छल-कपट करके जीवों को ठगना सो अनन्तानुबंधी माया, लोभ के वशीभूत होकर अन्याय-अनीति से अत्यधिक धन उपार्जित करना या करने की इच्छा रखना सो अनन्तानुबन्धी

लोभ है। इन समस्त कषाय का परिणाम बहुत कटु होता है। इनके परिणामस्वरूप जीव को दुर्गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जिन्हें ऐसे पाप से बचने का भाव है उनका यह कर्तव्य है कि इन अनन्तानुबंधी कषायों से बचें। २५ कषायों में अप्रत्याख्याना वरणीय के उपशम या क्षय या क्षयोपशम (उदभावीक्षय) हो तो सम्यक्त्व होता है, परन्तु यदि अप्रत्याख्यान का उदय हो तो जीव के अणुव्रत पालन करने के भाव नहीं बनते हैं। तो फिर महाव्रत की कल्पना कैसे करें। अप्रत्याख्यान अभाव हो जाने से प्रत्याख्यान कषाय के सद्भाव (उदय) में भी महाव्रत (मुनिव्रत) धारण करने का भाव नहीं बनता है और इसके अभाव में प्राणी महाव्रत पालन कर सकता है। संज्वलन कषाय का तीव्र उदय होता है तब जीव में प्रमाद रहता है। संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र को नहीं होने देती है। इस तरह अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान के उदय में भी तीव्र प्रमाद रहता है। तो प्रमाद भी बंध का कारण है, प्रमाद इन कषायों में अन्तर्भूत है। १५ कषायों के अन्तर्गत अनंतानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय ४, अप्रत्याख्यान कषाय ४, प्रत्याख्यान कषाय ४ संज्वलनकषाय ४, और नो कषाय (किंचित कषाय) ९, अर्थात् ४+४+ ४+ ४+ ९= २५ कषाय हुए। आचार्य ने अन्तिम कारण योग बताया है। योग कहते हैं आत्म प्रदेश के हलन-चलन को। यह हलन-चलन होता है, मन, वचन और काय के निमित्त से। **योग के तीन भेद हैं (१) मनोयोग, (२) वचन योग (३) काय योग** । ये योग शुभ भी होते हैं और अशुभ भी । आचार्य उमास्वामी बंध एवं आस्रव के बारे में लिखते हैं।

केवली श्रुत-संघ-धर्म-देवा-वर्ण वादों दर्शन मोहस्य ।

आचार्य कह रहे हैं कि केवली का, श्रुत का, मुनि संघ का, धर्म का और देव का अवर्णवाद, निन्दा करना, अवर्णवाद के भाव पाप आस्रव में ही नहीं, अपितु दर्शन मोहनीय (मिथ्यात्वः) के बन्ध में भी कारण है। हे भव्य प्राणी! इनकी आलोचन करके स्वयं को मिथ्यात्व रूपी कुएँ में मत डालो। ऐसे अशुभ आस्रव से अपनी रक्षा करो। प्रथम स्थान पर है केवली भगवान का अवर्णवाद करना, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए पंथाग्रह से मोहित होकर कहना कि केवली भगवान कवलाहार करते हैं या परमात्मा (सर्वज्ञ) का अस्तित्त्व ही नहीं है।

श्रुत का अवर्णवाद करना ही वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों में भी हिंसा का समर्थन किया गया है। शास्त्रों में श्रावक को शुद्धोपयोग बताया गया है।

संघ का अवर्णवाद करना कि चार प्रकार के ऋषि, मुनि, यति और अणगार या मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका, चतुर्विध संघ की निन्दा, आलोचना करना कि वर्तमान में सब द्रव्यलिंगी, मिथ्यादृष्टि साधु हैं, ये सब नरक-निगोद जाने वाले, सब शिथिलाचारी हैं। इत्यादि। धर्म अवर्णवाद करना यथा पशु यज्ञ करो, वस्त्र सहित मुक्ति होती है, स्त्री की भी मुक्ति होती है इत्यादि धर्म पर आरोप लगाना धर्म वर्णवाद है। देव अवर्णवाद का अर्थ है कि देवमांस खाते हैं। जब देवों को क्षुधा उत्पन्न होती है। उस समय कंठ से अमृत झरता है। वे मनुष्यवत् भोजन नहीं करते हैं- तो अवर्णवाद करना ही अमुक देव-देवी को इस पशु का मांस इष्ट है, अमुक देवी-देवता को इस पशु की बलि देने से प्रसन्न होंगे इत्यादि, देवी-देवता पर आरोप लगाना देव अवर्णवाद है। जैसे मिथ्यात्व एवं तीव्र अशुभ कर्म का आस्रव होता है। आचार्य उमास्वामी आगे लिखते हैं कि नीच गोत्र आस्रव एवं बंध किन कारणों से होता है।

''परात्मनिन्दा प्रशंसे-सद्-सद् गणोच्छादनोद् भावने च- नीचै र्गोत्रस्य''

नीच गोत्र के आस्रव में आचार्य ने प्रथम कारण रखा ''परात्म निन्दा'' पर की निन्दा करना। दूसरा है- आत्म प्रशंसा, स्वयं की प्रशंसा में आनन्द मानना। गुणीजनों की प्रशंसा और स्वयं की निन्दा उच्च गोत्र के आस्रव का कारण कहा है। नीच गोत्र में मोक्ष संभव नहीं, इसलिए यह आस्रव सर्वथा हेय है। उच्च गोत्र का उपादेय है। जब आप दूसरे की निन्दा और स्वयं की प्रशंसा कर रहे हो उस समय नियम से नीच गोत्र का आस्रव हो रहा है और जब तक नीच गोत्र आस्रव हो रहा तब तक मिथ्यात्व का पोषण होगा। आचार्यों ने आस्रव के १०८ द्वार बताये हैं पहले इन द्वारों को बन्द करो। वे १०८ द्वारा इस प्रकार हैं। मन वचन-काय को कृत-कारित अनुमोदना से गुणा करो। फिर जो गुणनफल आये उसका संमरम्भ-समारम्भ-आरम्भ से पुनः गुणा करे और जो गुणनफल आये उसका क्रोध-मान-माया-लोभ से गुणा करने से आस्रव द्वार के गुणन संख्या आती है यानी ३ × ३ = ९, ९×३ = २७ २७ × ४= १०८।

आचार्यों ने इन १०८ भेदों को और प्रकार से भी बताया है। क्रोध, मान,माया, लोभ को कृत-कारित-अनुमोदना से गुणा करें और जो गुणनफल प्राप्त हो उसको भूतकाल-वर्तमान-भविष्यतकाल से गुणा कर देने से १०८ आस्रव हो जाते हैं।

आचार्यों ने आस्रव बंध के १०८ भेद इस प्रकार भी बताये हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक, नित्यनिगोद, इतरनिगोद, दो इन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय इस प्रकार जीवों के बारह भेद होते हैं। इन भेदों को मन-वचन-काय से गुणा करें और जो गुणनफल आये उसको कृत-कारित-अनुमोदना से गुणा करने से १०८ प्रकार के आस्रव के द्वार हो जाते हैं। यानी १२×३=३६, ३६×३=१०८ भेद हो जाते हैं। आप णमोकार मंत्र की माला प्रतिदिन फेरते हैं, उस माला में भी १०८ मणियाँ या दाने होते हैं, जो आस्रव द्वारा बंध के लिए प्रतीक है तथा फूल परमात्मा का प्रतीक हैं और तीन मणियाँ या दानें सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रतीक है। ये जो १०८ आस्रव के द्वार हैं ये हमेशा जीव के साथ विद्यमान हैं उनका नाश करने के लिए १०८ मणियों की माला है। एक-एक मणि-पर एक-एक णमोकार मंत्र का जाप कर एक-एक पाप का नाश करना चाहिए और इस प्रकार सब पापों का नाश कर डालना चाहिए। इसी बात को धर्म रसिक ग्रन्थ में लिखा है-

हिंसा तत्र कृता पूर्वं करोति च करिष्यति।
मनोवचन कायैश्च ते तु त्रिगुणता नव।
पुनः कृतं स्वयं कारितानुमोदैर्गुणा हताः।
सप्तविंशति ते भेदाः कषायैर्गुणितांश्च तान्।
अष्टोत्तरशतं ज्ञेयं असत्यादि तादृशम्।

इन एक सौ आठ पापों को दूर करने के लिए एक सौ आठ मणियों की माला कही गई है। एक-एक पाप के आस्रव व बंध को नाश करने के लिए एक-एक मंत्र का एक-एक मणि पर जाप करने को कहा है। इस प्रकार प्रातः तीन सौ चौबीस जाप कर पापों को दूर करना चाहिए। तीनों समय जाप करने वालों के लिए तो पाप और धर्म की समानता रहती है। यदि तीन बार से अधिक जाप करें या तीन माला से अधिक जप करें तो उसका फल अधिक होताहै। यदि तीनों समय की तीन मालाओं से कम जाप करे तो पापबंध अधिक रहता है। इसलिए प्रतिदिन तीन सौ चौबीस जप करने से पूर्व संचित पापास्रव एवं पापबंध नष्ट हो जाते हैं। अतः सबसे पहले अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रविरति करो तदनन्तर योगी बनो, योगी बनकर योग का निग्रह करो। यही भगवान महावीर की साधना की मार्ग है। ॐ नमः।

8 संवरानुप्रेक्षा

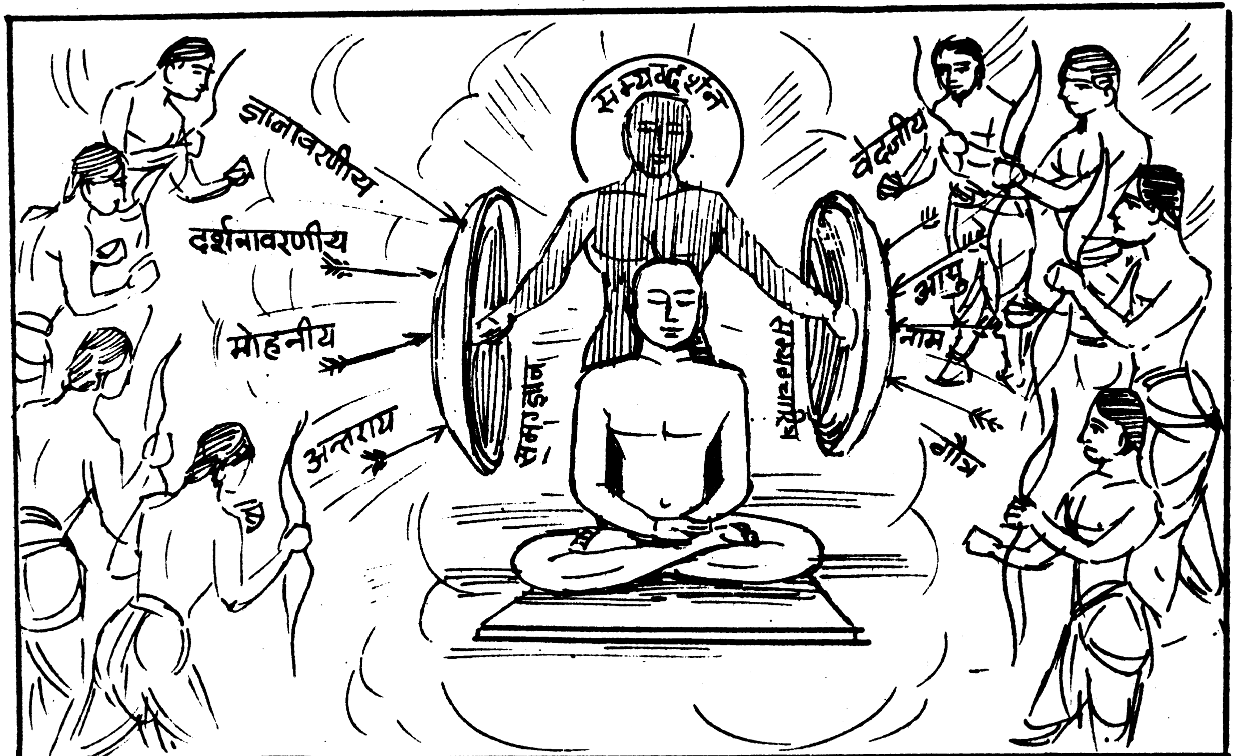

मुक्ति का उपाय

४ संवरानुप्रेक्षा

संवर का अर्थ बहुत सरल है। एक संकीर्ण रास्ता है और बहुत भारी भीड़ जा रही हो, वहाँ क्या किया जाता है? कुछ ज्यादा समझने की जरूरत नहींहै। आहार के समय पर जैसे स्वयं सेवक आकर खड़े हो जाते हैं और भीड़ को नियंत्रित कर लेते हैं दो स्वयं सेवक आगे खड़े रहते हैं कभी-कभी ये दो व्यक्ति भी उस भीड़ को रोकने में असमर्थ हो जाते हैं। बाहर की भीड़ घुसी जाती है और अंदर वाले उनका निषेध कर रहे हैं। ऐसा भी होता है- आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है-

आस्रव निरोध संवर :।

अर्थात्-आगे का मार्ग रोक देना संवर कहलाता है। इसके लिए शक्ति

की आवश्कता है। बिना शक्ति के काम नहीं हो सकता । नदी का प्रवाह दोनों तटों के माध्यम से बहता जाता है, किन्तु उस प्रवाह को जिस स्थान पर रोका जाता है, वहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिक इंजीनियर अपना दिमाग लगाते हैं, रात-दिन चिंतन करते हैं कि यदि यहाँ पानी को बाँध दिया जाय तो पानी टिकेगा, रुकेगा या नहीं? पानी काय यह बल वह बाँध झेल लेगा या नहीं? बहुत प्रकार से सोच-विचार होता है। उसके अनन्तर बाँध का निर्माण होता है। पानी को रोका जाता है, पानी का निरोध किया जाता है, बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है। पानी बहता रहता तो वहाँ कोई बोर्ड लिखा हुआ नहीं रहता है यहाँ ''डेन्जर'' (खतरा) है लेकिन जहाँ बाँध बंध जाता है वहाँ अवश्य लिखा रहता है कि डेंजर (खतरा) है, यहाँ सावधानी बरतें। पानी ज्यादा हो जाये तो उसको निकाल देना चाहिए, नहीं तो खतरा है। बाढ़ आ जाये तो इतनी जान हानि और आर्थिक हानि नहीं होती जितनी बाँध के टूटने पर होती है।

अनादिकालीन राग-द्वेष और मोह के माध्यम से जो कर्मो का आस्रव रूपी प्रवाह अविरत रूप से आ रहा है और जिसको हम अपने पुरुषार्थ के बल पर उपयोग रूपी बाँध के द्वारा वहाँ बाँध देते हैं। तो वह कर्मों के आने का द्वार (जो कि आस्रव है) रुक जाता है। वह बड़ा बलशाली है। ध्यान रखो यहाँ पर न मन काम करेगा, न वचन काम करेगा और न ही काय कार्य करेगा, बल्कि वह उपयोग कार्य करेगा जो कि आत्मा का अन्नय गुण है। जो कहना चाहिए कि आत्मा रूपी शक्ति ही उस कर्मरूपी प्रवाह में भी, एक बल, अपने आप में है और अनादिकाल से उसी प्रकार ढह जाता है जिस प्रकार सीमेंट की जगह मिट्टी का प्रयोग करके जो बाँध बना दिया जाता है, वह टूट जाता है। यह तो पानी की बाढ़ की बात हो गई परन्तु कर्मो की भी ऐसी ही बाढ़ आती है।

जीव के साथ जो संकट लगे हैं उनका निमित्त कारण है कर्म का उदय। कर्मोदय तब आता है जब कर्म बंधे हुए हों और कर्मबन्ध तब होता है जबकि उनका आस्रव हो। तो सर्वसंकटों का मूल जड़ आस्रव कहलाता है। वह आस्रव है क्या? अंतरंग दृष्टि से तो आत्मा के मोह राग द्वेष परिणाम का नाम है और बहिरंग दृष्टि से ज्ञानावरणीय आदि अष्ट कर्मों का नाम है।

आस्रव रुके इसकी भावना इस संवरानुप्रेक्षा में की गई है। आस्रव रुकने से संवर है। कर्मों का आना बंध हो गया। आत्मा में राग, द्वेष, मोहभाव न आयें इसका नाम संवर है। संवर ही जीव के सुख का कारण है। अब तक अज्ञान में अनेक भवों में करोड़ों बार तपस्यायें भी की होंगी और कठिन से कठिन तपश्चरण भी किये होंगे। द्रव्यलिंग धारण करके भी, निर्ग्रन्थ भेष धारण करके भी ऊँचे से ऊँचे तपश्चरण भी किये गये होंगे। किन्तु यह है कि आस्रव तो रुका ही नहीं. आस्रव के रुकने का नाम संवर है और यह संवर जीव के लिए अहितकारी है। जैसे किसी नदी में नाव जा रही है, इस नाव में छिद्र न बंद करें तो वह तो उस नाव के डूबने का ही कारण है। नाव को डुबाने से बचाने के लिए मल्लाह क्या करता है। सर्वप्रथम तो उस छिद्र में कपड़ा आदि लगाकर छिद्र को बन्द करता है। जिससे नया पानी नाव में न आ सके क्योंकि पहले छिद्र को बन्द करें, पानी आता रहे और उस पानी को ही वह मल्लाह अपने हाथों से उलीचता रहे तो क्या पानी का आना रुक जाएगा? नहीं रुकेगा। कुशल मल्लाह सर्वप्रथम पानी आने वाले छिद्र को बन्द कर देता है फिर वह उसे आये हुए पानी को उलीचता है। जब नाव में पानी बिल्कुल नहीं रहता है तब वह नाव पार हो जाती है, डूबती नहीं। इसी प्रकार इसी आत्मा में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के छिद्र, हैं, जिन वृत्तियों के कारण आत्मा में कर्म आते हैं, बहते हैं, वे वृत्तियाँ छिद्र रूप ही तो हैं, तो मोक्ष मार्गी पुरुष सर्वप्रथम क्या करता है कि उन आस्रवों को रोकता है। संवर भाव करता है। फिर बहे हुए कर्मों की निर्जरा करता है। कर्मों का आना रुका और आये हुए कर्मों की निर्जरा की तो एक समय वह आता है जब कर्मों से सदा के लिए यह जीव मुक्त हो जाता है। ऐसे महा उपकारी संवर तत्त्व की यहाँ भावना की जा रही है।

जब अनित्य भावनायें भाते हैं कि संसार के प्रत्येक पदार्थ विनाशक हैं। विनाशक पदार्थों में रुचि न करना, किन्तु अविनाशी जो अपना आनन्द स्वभाव ज्ञानस्वरूप है उसमें रुचि करना. अनित्य भावना जो निज अंतस्तत्व की रुचि की प्रेरणा मिलती है वह संवर भाव ही तो है।

अशरण भावना में यह भावना की जाती है कि दल, बल, वैभव, माता,पिता आदिक सभी मेरे लिए अशरण है। मृत्यु से बचाने वाला भी

कोई नहीं है। और जब कभी दुःख आता है तो उन समयों में कोई शरण नहीं है। यों बाहरी पदार्थों से तो अपेक्षा करायी गयी और निर्मल परिणामों से रहने वाला मैं ही मेरे लिए शरण हूँ, मेरा जो सहज स्वरूप है उसका आलम्बन उसका अनुभव ही मेरे लिए वास्तविक शरण है। यों अशरण भावना से हमको पारमार्थिक शरणभूत निजस्वरूप की ओर दृष्टि जगती है, यह संवर भाव है। संसार भावना में यह ज्ञान किया है कि संसार में सर्वत्र दुःख है। प्रत्येक पर्यायों में कष्ट ही कष्ट विदित हो रहे हैं। कभी मनोवांछित वैभव आदि भी मिलें लेकिन संतोष उसमें कौन करता है? संतोष भी करे तो उससे कुछ पूरा तो नहीं पड़ता। ये पुण्य पाप सब अस्थायी भाव हैं, इनके फल में हर्ष विषाद मानने का कोई अधिकार नहीं है। तो इस दुःखमय संसार में किसी भी स्थिति में दृष्टि न थमे इन सब सांसारिक दशाओं से उपेक्षा जगे और जो अपना स्वरूप है। संसार रहित जिसमें रागादिक विकारों का स्वभाव नहीं पड़ा है। केवल विशुद्ध ज्ञानानन्द का ही स्वभाव है। ऐसे निःसंसार आत्मतत्व की दृष्टि जगती है तो यह संवर भाव ही तो है। एकत्वभावना में निरखा जाता है कि यह जीव सब दशाओं में अकेला है। अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, जो भी इस पर पर्यायें गुजरती हैं उन सबका अनुभव भी यह अकेला ही करता है। ऐसा जानकर किसी को अपना सहयोगी न मानकर सबसे उपेक्षा रखना जहाँ ये बाह्य लौकिक प्रेरणायें मिली हैं वहाँ यह भी प्रेरणा मिलती है कि मैं अपने आपके सहज शुद्ध एकत्व स्वरूप में हूँ। मैं वह हूँ जो शाश्वत एक रूप रहता हूँ, जिसके आधार पर एक ज्ञान और आनन्द की व्यक्त पर्यायें चला करती हैं, मैं ऐसा शुद्ध ज्ञानानन्द मात्र हूँ। ऐसे अपने एकत्व की सुध हुई तो ऐसे अपने स्वरूप में रहने का भाव संवर भाव ही तो है। अन्यत्व भावना में यह पाया जाता है कि देह भी मुझसे भिन्न है। जो भिन्न है जिस पर मेरा अधिकार नहीं है उसमें क्या रुचि करना? जहाँ ब्राह्य में एक ऐसी प्रेरणा मिलती है वहाँ अंतर में यह भी प्रेरणा मिलती है कि मुझे में उठने वाले ये रागाद्वेषादिक भाव भी मेरे स्वरूप नहीं हैं। जैसे दर्पण में किसी चीज की छाया प्रतिबिम्बित हुई तो वह प्रतिबिम्ब दर्पण में दर्पण की ओर से दर्पण की निजी वस्तु नहीं है। वह वस्तु सामने से हट जाय तो उसका प्रतिबिम्ब भी हट गया। यों ही

मुझ में जो राग द्वेषादिक परिणमन होते हैं वे मेरे स्वभाव से मेरे नहीं हैं। वे उठे हुए हैं, आगंतुक हैं, परभाव हैं, वे भी मुझसे जुड़े हैं मैं तो शुद्ध सहज ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ इस प्रकार के विभाव में भी परत्व की निश्चितता कराकर यह अन्यत्व भावना स्वभाव में लीन कराने की प्रेरणा करती है तो यह भाव संवर ही तो है। अशुचि भावना में भीतर से लेकर बाहर तक सभी पदार्थ अशुचि हैं। खून, माँस, मज्जा, रोम, नख आदि सभी अपवित्र पदार्थ हैं लेकिन यह भी साथ में दृष्टि जगती है कि मैं आत्मा अमूर्त ज्ञानानन्द मात्र स्वयं स्वभावतः पवित्र हूँ। सब द्रव्यों में सार एक यही आत्मतत्त्व है जो ज्ञाता है विश्व की व्यवस्था समझ सकने वाला है ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र शुचि हूँ। इस भावना से अशुचि पदार्थों से हटकर परम पावन निज अन्तर तत्त्व आलम्बन प्राप्त होता है यह संवर भाव है।

आस्रव भावना में रागादि भावों को अहित समझ कर उससे हटकर निरास्रव सहज अन्तस्तत्त्व में उपयुक्त होने का पौरुष होता है यह आस्रव भावना भी संग रूप है। संवरभावना में तो यह सब वर्णन चल ही रहा है। वह तो प्रत्यक्ष संवर रूप है ही। निर्जराभावना में यह जीव चिन्तन करता है कि इस जीव के क्लेश के कारण भूत कर्म है जब तक कर्म दूर न हो तब तक जीव को कई पारमार्थिक विश्राम का मार्ग न मिल सकेगा। भले ही विषयों में मौज माने, लेकिन वह भी बंध मार्ग है। कर्म कैसे झड़ें अपने उपयोग भूमि से कषायों को हटायें, इच्छाओं को दूर करें और अपने सहज ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि रखें तो कर्म झड़ते हैं निर्जरा भावना में कर्म झड़ाने की दृष्टि का जो एक आश्रय है उसके दर्शन होने से संवर भाव बनता है। लोक भावना में ज्ञानी ने चिन्तन किया कि यह लोक इधर धन राजू प्रमाण है। इस लोक में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं बचा जिसको इस जीव ने अनन्त बार भोगा न हो। सभी क्षेत्र, सभी पदार्थ अनेक बार समझे हुये हैं, भोगे हुए हैं, इन पदार्थों में रुचि करना जीव के भटकने का कारण तो यही है कि यहाँ पर पदार्थों में रुचि करता है। जैसा स्वरूप है वैसा यह जानना नहीं चाहता। असत् विपरीत, मिथ्या जानने में ही इसको मौज आती रहती है, यह सबसे भारी विपदा है। भला सत्य बात जानने में कोई दोष तो नहीं है। बीते कुछ भी, हम कर सकें या न कर सकें, मगर सत्य बात जानने का

प्रमाद क्यों? सत्य स्वरूप जानने में जो एक प्रमाद हटता है, अरुचि घटती है यह जीव पर सबसे बड़ा अंधकार है तो इन्हीं अज्ञान भावों के कारण यह जीव लोक में सर्वत्र जन्मा और मरा। वह अज्ञान दूर हो तब सम्यक्त्व सूर्य प्रकट होताहै और समस्त संकट भाग जाता है। होता क्या है वहाँ अपने आपको जो मैं सहज शुद्ध हूँ उसका आलम्बन ही तो लिया जाता है। कितना सुगम काम है बाहर में जिन पदार्थों के जुटाने, रक्षा करने आदि का अधिकार नहीं उन पर तो वह जीव रुचिया बना रहा है और जो जिनका तत्त्व है स्वयं का स्वरूप है ज्ञानमय, उस ज्ञानमय सुगम स्वरूप को जानने का प्रमादी बन रहा है। अपने आपके स्वरुप का दर्शन हो तो संवर भाव है।

बोधि दुर्लभ भावना में ज्ञानी चिन्तवन करता है, देखिये यह मैं कितनी घाटियों को पार करके, कितनी विपदाओं से निकलकर आज कैसी उच्च स्थिति में आया हूँ। जीव का आदि स्थान निगोद है। निगोद में अनादि से यह जीव रह आया। वहाँ से निकलना भी कठिन था इत्यादि, मनुष्य भव पाना दुर्लभ- यह चिंतन चलता है। अतः धर्म के प्रति जो आस्था के भाव हैं वह संवर भाव तो है। धर्मभावना में धर्मश्वरूप का विचार चलता है कि धर्म अर्थ क्या है? वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। इस धर्म के माध्यम से संसार के सारे दुःख नष्ट हो जाते हैं। अतः इस प्रकार जो धर्ममय भावना बनी वही तो संवर भाव है। इस प्रकार १२ भावना ही संवर भावरूप है। १२ भावना के चिंतवन से कर्मों का संवर होता है। इसलिए आचार्यों ने १२ भावना को संवररूप कह दिया है। आचार्य उमास्वामी ने मोक्ष शास्त्र के अन्दर संवर के कारणों को प्रस्तुत करते हुए लिखा है-

स गुप्ति-समिति धर्मानुप्रेक्षा-परिषह-जय चारित्रैः

आचार्य कहते हैं कि संवर को प्राप्त करना चाहते हो तो गुप्ति पालन करो। गुप्ति का अर्थ है योगों का निरोध करना। मन, वचन, काय जो हम आपके साथ लगे हुए हैं, उनका हलन-चलन होता है और उस निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन होता है। तो उन योगों का निरोध करना गुप्ति है। गुप्ति शब्द गुप् धातु से बना है, गुप् धातु जो है वह संरक्षण के अर्थ में प्रयुक्त है। यह एक ऐसे प्रकार का बल है जो पूर्ण रूप से कर्म से आत्मा

का संरक्षण करता है। जब गुप्ति के माध्यम से कर्मों का आना रुक जाता है तब योग ठीक-ठीक काम करता है। हम चाहें कि कर्मों का आना भी बना रहे और हम आपके गुणों का विकास करना चाहें तो तीन काल में नहीं हो सकता है। संवरता को प्राप्त करने के लिए गुप्ति के समान और कोई उत्तम साधन भी नहीं है। संवरता को प्राप्त करने के लिए आचार्यों ने दूसरा मार्ग बतलाया है। प्रमाद के त्याग करने का नाम समिति है। विहार करना पड़ रहा है। चातुर्मास के अतिरिक्त एक नगर में बहुत दिनों तक रहने की शास्त्राज्ञा नहीं है, क्योंकि एक जगह बहुत काल रहने पर राग, प्रमाद, मोह उत्पन्न हो सकते हैं। तब विहार करना ही है। विहार करने में शरीर के हलन-चलन की प्रवृत्ति होगी ही। तो उस शरीर के हलन-चलन प्रवृत्ति में प्रमाद न रहना, इसका नाम समिति है। समिति ५ प्रकार की होती है- **ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति और प्रतिष्ठान समिति।**

ईर्या समिति - निर्जंतुक मार्ग से सूर्योदय होने पर चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्त करके तीर्थयात्रा, गुरुवंदना आदि धर्मकार्यों के लिए गमन करना ईर्या समिति है।

भाषा समिति - चुगली, हँसी, कर्कश, पर-निन्दा आदि से रहित हित, मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है।

एषणा समिति- छयालीस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित नवकोटि से शुद्ध, श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासु क, निर्दोष पवित्र आहार लेना ऐषणा समिति है।

आदान निक्षेपण समिति - पुस्तक, कमंडल आदि रखते व उठाते समय कोमल मयूर पिच्छिका से परिमार्जन करके रखना उठाना, तृण, घास, चटाई, पाटें आदि को भी सावधानी से देखकर पिच्छिका से परिमार्जन करके ग्रहण करना या रखना आदान निक्षेपण समिति है।

उत्सर्ग समिति - हरी घास, चींटी, आदि जीव जन्तु से रहित प्रासुक, ऐसे एकान्त स्थान में मूत्र मलादि विसर्जन करना यह उत्सर्ग या प्रतिष्ठान समिति है।

स्पर्शन रसना आदि पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना, इनको शुभ

ध्यान में लगा देना पंचेद्रिय निरोध होता है। इसके भी पाँच इन्द्रियों की अपेक्षा से पाँच भेद होते हैं।

उत्तम सुख में पहुँचायें उसे धर्म कहतेहैं। धर्म के दस प्रकार हैं- क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

१. **क्षमाधर्म-** क्रोध का **अभाव** नाम क्षमा है। अर्थात् क्रोध के प्रसंग आने पर भी धैर्य से **सहन कर** जाना ही उत्तम क्षमा है।

२. **मार्दव धर्म** - मान का न **रहना ही** उत्तम मार्दव है। अर्थात् मृदु नम्र स्वभावी होना उत्तम मार्दव **है।**

३. **आर्जव धर्म** -छल कपट नहीं करना **आर्जव** है। अर्थात् सरल, ऋजु परिणाम युक्त रहना ही उत्तम आर्जव है।

४. **उत्तम शौच धर्म** - पवित्रता का नाम शौच है यानी लोभ,लालसा रहित होकर संतोष करना ही शौच धर्म है।

५. **उत्तम सत्य धर्म** - असत्य वचन से रहित होना सत्य है। तात्पर्य यह है कि असत्य वचन को छोड़कर हित, मित, प्रिय वचन बोलना सत्य धर्म है।

६. **तप धर्म** - अनशनादि बारह प्रकार के तप ही तप धर्म है।

७. **संयम धर्म-** इन्द्रिय एवं मन को संयमित करना संयम धर्म है।

८. **त्याग धर्म** - अंतरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग करना त्याग धर्म है।

९. **आकिंचन्य धर्म** - तिल-तुष मात्र भी मेरी पर वस्तु नहीं यह भाव लाना आकिंचन्य है।

१०. **ब्रह्मचर्य धर्म** - ब्रह्म (आत्मा) में लीन हो जाना ब्रह्मचर्य है। यानी विषय भोगों से विरक्त होकर आत्मा में रमण करना उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है।

अब यहाँ संवर भावना में परीषहजय नाम की संवर नाम की बात को लिखता हूँ। पाठकगण को यह प्रश्न हो सकता है कि परिषह क्यों जीतना चाहिए? शान्ति के मार्ग से च्युत न हो सकें और कर्मों की संवर और निर्जरा कर सकें। इसी भाव से परिषहों को जीतना बताया गया है। हम आप सभी को आरामतलबी आदतें छोड़ देनी चाहिए। उपदेश तो यों किया गया कि अपनी शक्ति अनुसार इस देह को कुछ-कुछ कष्ट में लगाये रहना चाहिए।

इसका कारण बताया है कि बिना कष्ट के आराम में कुछ ज्ञान भी हासिल कर लिया जाय, लेकिन बिना कष्ट के आराम में ही उपार्जित किया हुआ यह ज्ञान कष्ट आने पर नष्ट हो सकता है। फिर वहाँ सुध-बुध भूली जा सकती है। इसलिए उपवास आदि का अभ्यास करना चाहिए। इस देह को शक्ति अनुसार कुछ न कुछ कष्ट में, तपश्चरण में लगाये रहना चाहिए जिससे कभी पाप का उदय आने पर कोई उपसर्ग भी आ जाय तो भी हम उस स्थिति में अपने ज्ञान को न भूलें। इसके लिए परिषहों के विजय का अभ्यास बताया गया है। परिषह २२ हैं।

(१) क्षुधा परिषह जय

साधु मार्ग से च्युत ना होवें, कर्म निर्जरा हेतु वरें।
द्वय अरु बीस परीषह यतिवर, समतापूर्वक सहन करें॥
बेला तेला पक्ष मास, उपवास बाद भोजन करते।
जठरानल की बाधा को सह 'क्षुधा परिषह' जय करते।

(२) तृषा परीषह जय

नाना विधि पकवान बनावें, धरि उत्साह अधिक तन में।
गरमा-गरम कचौड़ी पूड़ी रुचिकर देवे भोजन में॥
मात्रा भोजन बढ़े स्वाद में, या अन्तराय हो भोजन में।
'तृषा परिषह' सहन करें गुरु, खेद नहीं लावें मन में॥

(३) शीत परीषह जय

मगसिर पूष माह की सर्दी, नग्न शरीर खड़े वन में।
कट कट दांतनि दाती बजती, थर थरात लागे तन में॥
झंझावात वायु को सहते, नहिं विचार लावे मन में।
'शीत परीषह' जयी साधु के, शीश नवाऊँ चरणनि में॥

(४) उष्ण परीषह जय

तीव्र ज्वरादिक से तन तपता, पित्त प्रकोप अधिक होवे।
ग्रीष्म ऋतु तप-तपे शिखर पर, मन की धैर्यता न खोवे॥
दुर्द्धर परीषह सहन करें, समता परिणामों को धरकर
भक्ति भाव से नमन करे हम, 'उष्ण परीषह' जयी मुनिवर ॥

(५) दंशमशक परीषह जय

मक्खी मच्छर नित ही काटें, पक्षी पीड़े बन बहु तेरे।
सिंह स्याल तन को भख भरण जावें, सर्प बिच्छू डस लेत घनेरे॥
द्वेषभाव धारे नहिं यतिजन, नहिं उनको प्रतिकार करावें।
'दंशमशक परीषह' को जयकर, समता धर तन राग हटावें॥

(६) नग्न्य परीषह जय

गृह निवास तज-वनोवास कर, धन-धान्यादिक परिग्रह डार।
काया से जो ममत छोड़ते, होकर बालक वत निर्विकार॥
दशों दिशायें वस्त्र जिन्हों के, दीखत नग्न स्वरूप शरीर॥
'नग्न्य परीषह' को जयकर, समता धर तन राग हटावें॥

(७) अरति परीषह जय

द्रव्य क्षेत्र कालादिक कारण पाय अरति उपजै मन मांही।
जगत जीव तब खेद खिन्न हो, मन में विपर्यय भाव धराहीं।
किन्तु साधु जन कारण पाकर, अरति भाव मन में नहिं लावें।
'अरति परीषह' जयी साधु, शिव कामिनी वर मुक्तिपुर धावें॥

(८) स्त्री परीषह जय

ब्रह्मा तप मद दूर करन को, देव नारि को रूप बनाय।
हाव भाव धरि नृत्य कियो, तब ब्रह्मा चित चंचल बनआयो॥
लेकिन नग्न दिगम्बर साधु, नारि रूप लखि नहि ललचायो।
मन सुमेरु नहिं ढिगें ब्रह्म सों, 'तिया परीषह' जयी कहायो॥

(९) चर्या परीषह जय

चार हाथ भू शोध चलें मुनि, सभी जीव बाधा परिहारी।
कंकड़ पत्थर चुभै पैर में, घाव करत तन पीर करारी।
कर विहार नंगे पैरों से, खेद नहीं उर अन्तर लावें।
'चर्या परीषह' जयी साधु को, मन वच कर शीश नमावें॥

(१०) निषद्या परीषह जय

मन्दिर तीरथ क्षेत्र-गुफा, कोटर जंगल में वास करें।
निश्चय तन परिमित कालादिक, निषद्या से जो नाहिं टरें।
पशु नर देव अचेतन द्वारा , आपद विपद अनेक धरें हैं।
धैर्य धार निषद्या परीषह जयी शिवरमणी को शीघ्र वरें हैं॥

(११) याचना परीषह जय

राज्य मांहि महलनि के भीतर, कोमल सेज पें सुख से सोये।
ते मुनि पिछली रयनकाल लघु, एकहिं करवट धरिश्रय खोये।
शिला तथा भूमि ककरीलीं, चुभत शरीर न कायर होवें।
ते मुनि ' शैय्या परीषह' जयकर मुक्तिपुरी के सुख को जोवें॥

(१२) आक्रोष परीषह जय

छहों काय करुणा प्रति पालक, नहिं काहू को बुरो विचारें।
ऐसे साधु निरख खल बोलें, जगत जीव ठग करत विहारें॥
पापी मानी पकड़ों मारों, भीख मांग भोजन करे भारे।
'आक्रोष परीषह' जयी साधुजन, क्षमा ढाल मंन रक्षा धारें॥

(१३) वध परीषह जय

बैर तथा अपराध बिना, जो साधु को दुःख देवें, मारे।
काटें मारे घानी पेलें, नदी वहावें अग्नि प्रजारे॥
पूरब कर्म विचारत गुरुवर, कर कोप उनके नहिं लारे।
समता धर 'वध परीषह जयकर, पहुँच जायें भव सिन्धु किनारे॥

(१४) याचना परीषह जय

नाना विधि तप-तपत तपोधन, नहिं तन की परवाह करे हैं।
क्षीण भई कंचन सम काया, अस्थि चाम अवशेष धरे हैं॥
अयाचीक वृत्ति के धारी, नहीं याचना मांहि-परे हैं।
'याचना परीषह' जयी साधु के, हाथ जोड़ हम चरन चुरे हैं॥

(१५) अलाभ परीषह जय

एक बार मुनि चर्या हेतु, श्रावक गृह पथ कदम बढ़ावें।
वृत्त परिसंख्या धारी साधु, अटपटी आखड़ी मनु जु धरावें।
विधि नहीं मिले-योग्य भिक्षा नहिं या भोजन अंतराय जु आवे।
करे खेद नहिं 'अलाभ परीषह' जयकर साधु मुक्ति को जावे॥

(१६) रोग परीषह

वात पित्त कफ़ हानि वृद्धि तें, रोग अनेक भये तन मांही।
रागी जीव रागकर तन में, शोक करे मन आर्त धराहीं॥
भेद विज्ञानी उपचार न इच्छत, व्याधि वेदना सहन करांही।
'रोग परीषह' जयी साधु जन, ध्यान धार शिवपुर को जांही॥

(१७) तृण स्पर्श परीषह जय

शूल गोखरू अरु तृण सूखे, चुभत अंग पीड़ा कर डारें।
नेत्र मांहि वायु से उड़ रज, पड़ें नेत्र पीड़ा बहु धारें॥
तापर खेद खिन्न नहिं होवें, न कंटक निज हाथ निकारें।
यो 'तृण परीषह' जयी साधु, कर कृपा मोय भव सिन्धु उतारे॥

(१८) मल परीषह जय

नग्न रूप धारी वे यति वर, ग्रीष्मकाल विहार करें हैं।
तन पसेव निकले फिर तापर, वायु निमित्त उड़ धूल भरे हैं।
मलिन भाव धारें न महामुनि, मलिन शरीर निरख अपने मन।
'मलपरीषह' के जयी साधु को, नमस्कार करते मन वच तन॥

(१९) सत्कार पुरस्कार परीषह जय

अतुल गुणी भंडारी यतिवर, विद्या तप संयम के धारी।
तो भी जग जन विनय वन्दना, वचन काय नहिं मानी भारी॥
फिर भी मन में खेद न आनत, श्रद्धा घर हम शीश नमे हैं।
सत्कार और पुरस्कार परीषह जयी साधु शिव मांहि गये हैं॥

(२०) प्रज्ञा परीषह जय

चतु अनुयोग ज्ञान बहु तेरो, न्याय शास्त्र सिद्धान्त जु जानें।
तर्क छन्द व्याकरण कला निधि, परवादी देखत भय मानें॥
मन के द्वार प्रशंसा करते, वचन द्वार स्तुति जो ठानें।
इन वच सुनि अहंकार न धारें, प्रज्ञा परीषह जयी बखानें॥

(२१) अज्ञान परीषह जय

सकल परिग्रह त्याग भयें मुनि, सतत ध्यान अध्ययन जु धारे।
यत्नाचार मय करत प्रवृत्ति, गुप्ति मूल गुण जिनके लारे॥
बहुत दिवस करते तप बीते, अवधि आदिक ज्ञान न पाई।
यह विचार नहिं करत यतीवर, अज्ञान परीषह जय सुखदाई॥

(२२) अदर्शन परीषह जय

बहुत काल मैं करी तपस्या, पर कोई ऋद्धि नहिं प्रगटाई।
तप बल से ऋद्धि की सिद्धि, बहुत सुनी-पर झूंठ लगाई।
शुद्ध समिकिती साधु श्रेष्ठवर, यो विकल्प मन में नहिं साजें।
सो 'अदर्शन परीषह' विजयी, साधु दरशतें सब भाजें॥

आचार्य ने अन्त में महाव्रत रूप चरित्र को भी संवर का कारण कहा है। अतः पाठकगण को यह प्रश्न हो सकता है कि समय तो आस्रव का कारण है और जब आस्रव होगा तो बंध भी होगा। बात तो आपकी कुछ अंशों में ठीक जँचती है परन्तु आप लोगों को यह भी सोचना चाहिए कि संयम, आस्रव का कारण है ऐसा कह देंगे, तो यह भी ध्यान रखे कि एक गुप्ति को छोड़कर सूत्र में कोई भी ऐसा कारण नहीं है जो प्रवृत्ति के साथ न होता हो। समिति भी प्रवृत्ति कारक है। चरित्र भी प्रवृत्ति कारक है और बारह भावनाओं का चिंतन, दशलक्षण धर्म का अनुपालन और बाईस परीषहजय, सारे के सारे प्रवृत्ति कारक ही तो हैं। और दशलक्षण धर्म को आप आस्रव की कोटि में रख नहीं सकते क्योंकि उसी के माध्यम से तो कुछ धर्म का अनुष्ठान होता है। और वही निकल जाये तो ३६५ दिन यूं ही निकल जायेंगे अधर्म में। यह ध्यान रखें कि जब प्रवृत्ति होती है उस समय के लिए ये सारे के सारे कारण हैं और जब प्रवृत्ति छूट जाती है उस समय संवर का एकमात्र कारण गुप्ति रह जाती है। इसलिए इनके साथ आस्रव होते हुए भी प्रधानतया ये संवर के ही कारण हैं। कोई इसे ऐसा भी न समझे कि महाव्रत से

परीषह-जय से, एक मात्र बंध ही होता है। बंध भी होता है यह स्वीकार करता हूँ। फिर गुप्ति के साथ भी बंध होता है यह भी स्वीकार करना होगा। आस्रव होता है तो बंध होता है क्योंकि वह योग का कारण है और योग जब तक रहेगा तब तक यह भी चलता रहेगा इसलिए प्रारंभिक दशा प्रमत्त दशा को छुड़ाने के लिए और आस्रव तत्त्व से संवर तत्त्व की ओर आकृष्ट करने के लिए आचार्य उमास्वामी ने इस सूत्र का निर्माण किया और यह समयोचित ही है। एक मात्र उसके आस्रव सम्बन्धी या बंध या बंध संबंधी कार्य का ही कथन करके हम उसको गौण नहीं कर सकते।

अनेक प्रकार की क्रियाओं में सम्यग्दर्शन की भूमिका का निर्वाह भी होता जाता है तो चारित्र तो बहुत लम्बी-चौड़ी बात है और एक महत्त्वपूर्ण कारण है उसको मात्र आस्रव की ही कोटि में रखें तो यूँ कहना चाहिए कि उनका महत्त्व अभी पूर्ण समझ में नहीं आया। क्योंकि अनेक कारण होते हैं और उन एक-एक कारण के अनेक कार्य होते हैं, यह देखने में आते हैं। यह राजवार्तिककार ने सिद्ध किया है। तप है चरित्र है यद्यपि इनके साथ आस्रव होता है लेकिन ये मुख्य रूप से आस्रव के कारण नहीं हैं बल्कि संवर के कारण हैं। यह कैसे? एक कारण अनेक कार्य कर सकता है क्या? तो उन्होंने उदाहरण दे दिया तप के लिए कि देखो एक तप के माध्यम से निर्जरा मात्र नहीं होती, संवर भी होना चाहिए क्योंकि "**तपसा निर्जरा च।**" और 'च' का अर्थ यहाँ संवर भी होना चाहिए। उन्होंने यह भी कह दिया कि संवर भी होता है और उसके साथ-साथ आस्रव भी होता है, यदि तप में कमी है तो और आस्रव होता है तो बंध भी हो जाता है। अब आप यह पूछ सकते हैं कि महाराज! एक ही काल में आस्रव भी बन सकता है क्या? बंध भी करा सकता है क्या? और संवर भी करा सकता है क्या? अवश्य? अवश्य करा सकता है।

"यथा व्हे" जिसप्रकार अग्नि अनेकप्रकार के कार्य करने में सक्षम है। उसी प्रकार यह भी है। वह अग्नि, धान्य को यदि आप पकाना चाहें तो पका देंगे और चूल्हे या सिगड़ी में उसे डाल दें तो वह कोयले को जला भी देगी और जलते हुए कोयले के ऊपर भगोने में रखी हुई धान को वह पका भी रही है। और साथ ही साथवह प्रकाश भी प्रदान कर रही है और हाँ बैठे-बैठे यदि सर्दी लग रही है तो सर्दी भी दूर कर देती है जिसको सेंक कहते हैं, उसे जलाना नहीं कहते। तो इस प्रकार अनेक कार्य हो सकते हैं। अभ्युदय

का लाभ भी उसे मिलता है और यूं कहना चाहिए कि यह सारे के सारे संवर की कोटि में ही रखे गये हैं, जिनके माध्यम से आत्मा पतित से पावन बनती है। आस्रव उसे पतित बनाता है, बंध से वह जकड़ा हुआ है और अब इस संवर तत्त्व के माध्यम से वह कुछ बाहर आने का प्रयास कर रहा है अर्थात् बंधन टूटेगा। बंधन टूटने का अर्थ है जो आने का मार्ग है, वह रुक जायेगा और अपने अंदर के बंधन शिथिलभूत होंगे उनमें शिथिलता अवश्य आयेगी और समय आने पर तो उसका नाश अवश्यंभावी है।

यदि महाव्रत-रूप चरित्र आस्रव के कारण हैं तो चौदहवें गुणस्थान में भी आस्रव होना चाहिए क्योंकि महाव्रत तो वहाँ है। महाव्रत का तो त्याग नहीं किया है उन्होंने क्योंकि वे ध्यान में बैठे हैं। वे ध्यान में बैठे हैं, महाव्रत भी है तो आस्रव होना चाहिए, लेकिन आस्रव नहीं हो रहा है। इसका अर्थ यह हो गया है कि आस्रव अलग हो रहा है। महाव्रत के माध्यम से आस्रव नहीं हो रहा है। वह महाव्रत तो संवर का कारण और मुख्यरूपेण -

'क्रियाः साधकतमत्वात् करण निदेशः।'

पूज्यपाद आचार्य ने यह पंक्तियाँ लिखकर यहाँ इस शंका का समाधान भली प्रकार से किया है।

संवर इस कार्य को करने वाला यदि कोई कारण है, साधक है तो वह है गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चरित्र। चरित्र के बिना ये सारे के सारे आ नहीं सकते, तो सर्वप्रथम पंच-महाव्रतों का आलम्बन लेना होता है फिर बाद में यह सारी की सारी बातें परीषहजय आदि आते हैं। परीषहजय आदि का कोई मूल्य नहीं है। किन्तु ध्यान रखना महाव्रत अपनाने के बाद ही महाव्रत काम करता है। बारह भावना का चिंतन भी महाव्रत धारण करने के उपरान्त काम करता है। क्योंकि वास्तविक बारह भावनाओं का चिंतन निर्जरा और संवर के लिए कारण है इसलिए उसके माध्यम से आत्मा की विशुद्धि बढ़ती चली जाती है। आत्मा की विशुद्धि जितनी-जितनी बढ़ेगी उतना-उतना संवर तत्त्व भी बढ़ता चला जायेगा। उसके माध्यम से एक दिन यह संसारी प्राणी कर्मों की सारी की सारी निर्जरा करके मुक्त भी हो सकता है। अतः सम्पूर्ण संसार के प्राणी संवरानुप्रेक्षारूपी निर्मल गंगा में निमग्न होकर आत्मामृत का पान करे इसी पवित्र भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ। ॐ नमः।

9 निर्जरानुप्रेक्षा

एकदेशा मुक्तपना

९ निर्जरानुप्रेक्षा

एक व्यक्ति सदाचारी, दयालु और विनयी था। उस व्यक्ति के भोलेपन को देखकर उससे एक व्यक्ति जा कर कहता है कि मैं बहुत ही परेशान होकर आ रहा हूँ, और मुझे बहुत दूर जाना है, एक दो रूखी सूखी रोटी मिल जाय तो अच्छा है। सदाचारी व्यक्ति कहता है, ''ऐसी चिन्ता क्यों करते हो। ठंठा पानी अभी लाकर पिलाता हूँ'' पानी लाकर के पिला दिया। फिर वह व्यक्ति कहता है कि अब थोड़ी भूख शांत हो जाय तो अच्छा है। हाँ हाँ भइया! अभी रसोई तैयार हो रही है। तब तक थोड़ी काजू-किशमिश तो खा लो फिर बाद में भोजन कर लेना। नाश्ता करके भोजन करने के उपरान्त वह व्यक्ति पलंग बिछाकर सो जाता है। प्रातःकाल हो जाती है। वह सदाचारी

व्यक्ति सोचता है कि क्या बात है? यह कौन ? कहाँ का है? कुछ पहचान भी नहीं और आकर बैठ गया। पानी पीकर, नाश्ता, भोजन करके यहीं सो गया है, और जाने का नाम ही नहीं लेता है। थोड़े समय के लिए मेहमान रुक जाय, जाने का नाम न ले तो आप लोग परेशान होकर उसे भगाने की युक्ति ढूँढते हैं। उसे भगाने के लिये बार-बार घड़ी देखते हैं, इस पर भी मेहमान नहीं उठता, तो विवश होकर आप कहते हैं, "अरे मैं तो भूल ही गया था, मुझे आवश्यक कार्य से बाहर जाना था" तब मेहमान कहता है आप निश्चित होकर जाइये। जब तकपुनः लौट के नहीं आ जाओगे तब तक मैं यहीं बैठा हूँ। तब आप और भी अधिक कठिनाई में पड़ जाएंगे। एक तो पानी, नाश्तादि कराया, आदर भी किया, सब कुछ करने के बाद भी श्रीमान नहीं जा रहे हैं। भगाने के उद्देश्य से पुनः आप कहते हैं पर मेहमान कहता है, आप निश्चिंत रहें मैं तीन दिन तक अकेला रह जाऊँगा। उपयुक्त सारी प्रक्रिया (युक्ति) वह सदाचारी व्यक्ति कर लेता है। परन्तु वह व्यक्ति जाने का नाम भी नहीं लेता है सदाचारी उलझन में फँस जाता है। अन्त में विवश होकर कहता कि अब बहुत रह लिया, बहुत आदर सम्मान करना था, कर लिया, अब अपना रास्ता नापिये। इतना कहने के बावजूद भी वह वहीं रहा, गया नहीं, बल्कि उसके मकान पर अपने नाम की एक तख्ती भी लगवा दी। सदाचारी व्यक्ति ने परेशान होकर पुलिस की सहायता ली और आखिर में उसे धक्के मारकर घर से बाहर निकाला गया।

जिस समय सदाचारी व्यक्ति को यह मालूम हुआ कि यह व्यक्ति ठीक नहीं है, तब उस व्यक्ति को धक्के मारकर निकाल दिया। बस इसी का नाम "निर्जरा "। जो कर्म रूपी चोर महेमान बनकर आत्मरूपी घर में आकर अपना अधिकार, सत्ता, बनाये बैठे हैं, उन्हें आत्मा से पृथक् करना ही निर्जरा है। आत्म स्वभाव को जिसने आवरणित कर दिया, विभाव में परिणित कर दिया, ऐसे उन कर्मों को आत्मा से बाहर निकलना ही 'निर्जरा' है। अर्थात् स्वभाव का बोध हुआ, निज तत्त्व का ज्ञान हुआ। व्यर्थ में कर्मरूप में मेहमान आत्म-घर में आ चुका है। यह विजातीय है, इससे मेरा क्या सम्बन्ध है, यह तो मेरे जीवन के लिए बाधक एवं घातक है। तब भगाने के

लक्ष्य से उसका नाश्ता-पानी बन्द कर देना संवर है और मेहमान के कान पकड़कर बाहर निकालना 'निर्जरा' है। निर्जरा का अर्थ हुआ निज-निवास करना। जो वस्तु आत्म परिणाम विकार-कषाय उत्पन्न कर दे उसे बाहर निकालना निर्जरा है। आत्मालय में कर्मरूपी बहुत कूड़ा-करकट एकत्र हो गया है, उसे स्वच्छ करके बाहर फेंक देने का नाम निर्जरा है। जैसे कि दर्पण गंदा हो गया है। स्वयं का प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं दे रहा है। इसलिए जिस जगह से गंदा है उस जगह को बन्द कर देते हैं, उसके बाद दर्पण को साफ, स्वच्छ, पवित्र करते हैं। वैसे आत्मरूपी दर्पण में कर्मरूप गन्दगी लगी हुई है, और कर्मरूपी गन्दगी आ रही है तो उसको रोकने का नाम संवर है, और जो कर्मरूपी गंदगी आत्मारूपी दर्पण में लग चुकी है उसको निकाल देना, स्वच्छ, पवित्र कर देना ही निर्जरा कहलाती है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में निर्जरा की परिभाषा इस प्रकार बताई है-

'निर्जरा निर्जरणम् एकदेशेन कर्मणां शडनं' अर्थात्-आत्मा से कर्मों के एकदेश (कुछ अंश में) झड़ने (नरझन) को निर्जरा कहते हैं अर्थात् जो कर्म जीव ने बांधे हैं, जिस समय में बाँधे हैं उस ही समय में कर्मों में स्थिति पड़ जाती है और अनुभाग भी बंध जाता है। स्थिति पड़ने के समय यह निश्चित हो जाता है कि यह कर्म कितने दिनों तक उस आत्मा में बद्ध रहेगा। इस कर्म में कितनी डिग्री का फल देने की शक्ति है यह भी नियत हो जाता है। तो उन कर्मों के उदयकाल में उनकी शक्ति का उदय होता है। वही अनुभाग है। तो उस अनुभाग का खिर जाना, कर्मों का खिर जाना ही निर्जरा कहलाती है। आचार्यों ने निर्जरा के दो भेद किये हैं। (१) सविपाक निर्जरा है और (२) अविपाक निर्जरा। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है-

संसारे संसरंतस्स, खओवसमगदस्स कम्मस्स।
सव्वस्स वि होदि जगे तवसा पुन णिज्जरा विउला ॥ ७४७ ॥

अर्थात् चतुर्गति के संसरण रूप ऐसे इस संसार में संसरण करते हुए जीव के क्षयोपशम को प्राप्त करते हुए कर्मों की जो निर्जरा होती है, वह सभी संसारी जीवों को होती है वह देश निर्जरा या सविपाक निर्जरा है। तपरूपी अग्नि से भस्म किये हुए सभी कर्मों की जो निर्जरा होती है वह

सकल निर्जरा या अविपाक निर्जरा है।

सविपाक निर्जरा - जिस कर्म की जितनी स्थिति पूर्व में बंधी थी उसके पूरा होने पर उस कर्म का फल देकर झड़ने को सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह सब संसारी जीवों को होती है, इससे आत्मा को कोई लाभ नहीं है क्योंकि इस निर्जरा के द्वारा जीव जिन कर्मों की निर्जरा करता है उससे कई गुणित अधिक नयें कर्मों का बन्ध कर लेता है। जैसे मक्खन बिलोने में रस्सी एक ओर खिंचती है और दूसरी ओर लिपट जाती है। इसलिए इस निर्जरा को व्यर्थ बतलाया गया है। सविपाक निर्जरा सो संसारी प्राणियों के प्रत्येक समय हो रही है वह अर्हक-चक्र की भाँति हो रही है। अर्हट को बोलचाल की भाषा में रहट बोलते हैं। इसमें कई कलश या मटक्यिाँ नहीं बंधी रहती हैं, एक के ऊपर एक जैसे अंगुलियाँ हैं उसी प्रकार बंधी रहती हैं और जब कभी आप देखेंगे तो पायेंगे कि आधी मटकियाँ खाली होती चली जा रही है और तत्कालीन ज्ञान होता है कि अब धीरे-धीरे ये सारी की सारी मटकियाँ खाली हो जायेंगी किन्तु ऐसा नहीं है। वह एक ऐसी माला है कि एक खाली हो गयी है तो दूसरी जो है भरी हुई है। वह ऊपर की ओर आ रही है। और देखते-देखते वह खाली वाली मटकी पानी में चली जाती हैः पुनः भर कर आती है और फिर खाली हो जाती है। इस प्रकार दस-बीस मटकियों की माला रहती है और मालूम नहीं पड़ता है कि कब ये खाली होती हैं, और कब ये भरती हैं। भरती भी हैं और खाली भी होती हैं तथापि वह पानी आना रूकता नहीं है? यह नहीं समझना चाहिए कि हम निर्जरा कर लेंगे? कब? जब सारे के सारे खाली हो जायें फिर बाद में हम देख लेंगे। वह खाली तो होने वाला नहीं। यह ध्यान रखों कर्मों की निर्जरा आपको भी उसी प्रकार हो रही है।

उदयगत कर्म निजीर्ण हो रहे हैं। परन्तु खाते में शेष कर्म अवश्य रहते हैं और जब वे उदय में आते हैं तब तक अन्य नये वाले शेष खाते में चले जाते हैं इस प्रकार आपका बेलेन्स ज्यों का त्यों बना रहता है। इस अर्हट यंत्र की भाँति संसारी जीव की निर्जरा हो रही है। परन्तु यह कार्यकारी नहीं है।

अविपाक निर्जरा - तपश्चरण के द्वारा स्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही जो

कर्मों की निर्जरा की जाती है। उसे विपाक निर्जरा कहते हैं। छहढालाकार ने कहा भी है-

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खपावें, सोई शिव सुख दरसावै ॥११॥

ये निर्जरा व्रती-तपस्वी साधुओं के होती है और यही आत्मा के लिए लाभदायक है, यही मोक्ष प्राप्ति कराने वाली है। निर्जरा का प्रधान कारण तप है। तप का अर्थ है- 'आत्मा का संशोधन करना। वृहद द्रव्य संग्रह में 'ब्रह्मदेव सूरी' ने तप की परिभाषा दी है- **'इन्द्रिय निरोध तप'** अर्थात् इन्द्रिय विषयों का निग्रह करना ही तप है। **'कर्म क्षयार्थ तप्तये तपः'** अर्थात् कर्मों का क्षय करना ही तप है। **'इच्छा निरोधस्त तपः'** इच्छाओं को रोकना तप है। यह भी उत्तम विशेषण से अलंकृत है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तप-कीर्ति, पूजा, प्रख्याति लाभादि वांछा से रहित होता है। तप को सम्यक् होना परम आवश्यक है। तभी तप कार्यकारी हो सकताहै।

सम्यक् तप का अर्थ है सच्चा तप अर्थात् देव, शास्त्र और गुरु पर अंतरंग से श्रद्धान करके सम्यक् (सच्चा) प्रकार जो तप तपा जाता है उसे सम्यक् तप कहा है? बिना सम्यक् जो तप किया जाता है वह तप नहीं कुतप है। और वह तप कर्मों की निर्जरा एवं क्षय के कारण न बनकर बंध एवं संसार का कारण बनता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा भी है-

सम्मत्त विरहियाणं सुटठु वि उग्गं तव चरंताणा।
णलहंति बोहिलाहं अविवास सहस्सं कोडीहि। प्र. स.।

यदि कोई जीव सम्यक्त्व के बिना करोड़ों वर्षों तक उग्र तप भी करे तो वह भी बोधि लाभ प्राप्त नहीं करता है।

इस प्रकरण को पंडित दौलतरामजी ने भी व्यक्त किया है-

जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरै जे।
ज्ञानी के छिन मांहि, त्रिगुप्ति तै सहज टरै वे ॥७॥

देह और आत्मा का भेद नहीं जानने वाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि यदि

घोर तपश्चरण भी करे तब भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है।

समाधिशतक में पूज्य पाद लिखते हैं-

यो न वेत्ति परं देहादेवभात्मानभव्यम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वाति परमं तप ॥३३॥

जो प्राणी अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं-

जं अण्णासी कम्मं खवेदि भवसय सहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासभत्तेण॥

अज्ञानी, जो कर्म लक्षकोटि भवों में खपता है, वह ज्ञानी, (मन, वचन, काय) तीन गुप्ति से उच्छवासमात्र में खपा देता है। तप रूपी लगाम से मन रूपी घोड़े को वश में किया जाता है, तप के बिना उन्मत्त इन्द्रियों और मन का दमन कदापि सम्भव नहीं है। जिस प्रकार वर्षाऋतु में वज्रपात से पर्वतों की चोटियाँ टूटकर चकनाचूर को जाती हैं, उसी प्रकार तप रूपी वज्र द्वारा कर्मरूपी पर्वत चकनाचूर हो जाते हैं। तप के प्रभाव से विघ्नों का समूह नष्ट हो जाताहै, काम की विकार-परिणति भी तप से शांति हो जाती है, तप से अनेक ऋद्धियाँ भी प्राप्त की जाती हैं। ऐसा तप सर्वथा स्तुत्य व धारण करने योग्य होता है। मिथ्यातप करने से भी सांसारिक अभ्युदयों की उपब्लिध होती है परन्तु आत्मा और शरीर के भेदज्ञान से जो समीचीन तप किया जाता है वही तप सार्थक होता है, तथा निर्वाह की प्राप्ति में सहायक बनता है। कैसा है समीचीन तप? जिसकी दृढ़ जड़ सन्तोष है, प्रशम-सम्वेगादि जिसके स्कंध हैं, पंचेन्द्रियों का निरोध जिसकी शाखायें हैं, अभयदान जिसके हरे पत्ते हैं, शील जिसकी कोपल हैं, समताभाव जिसके सुवासित पुष्प हैं, ऐसे श्रद्धा रूपी वृक्ष का आश्रय ग्रहण करके पापरूपी सूर्य के भीषण सन्ताप से बचने का प्रयास प्राणी मात्र को करना चाहिए। कहा भी है कि-

तपसा प्राप्यते राज्यं, तपसा स्वर्ग सम्पदः।
तपसा शिव सौख्यं च, त्रैलोक्यैस्वर्य कृत्तयः॥

तप से इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति होती है। तप से राज्य की प्राप्ति होती है, तप से स्वर्ग की सम्पदा मिलती है। तप से मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

आचार्यों ने तप के दो भेद किये हैं-

(१) अन्तरंग तप (२) बहिरंग तप। बहिरंग तप के ६ भेद हैं- (१) अनशन (२) अवमौदार्य (३) वृत्ति परिसंख्यान (४) रस परित्याग (५) विविक्त शय्यासन और (६) काय-क्लेश। इसीप्रकार अन्तरंग तप भी छः प्रकार का होता है-

(१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान। इस प्रकार बहिरंग और अन्तरंग तप मिलाकर तप बारह प्रकार के हुये।

प्रश्नः- अनशनादि को बाह्य तप क्यों कहा है?

उत्तर :- बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् परप्रत्यक्षत्वात् च बाह्यत्वम् । रा. वा.।

अर्थ :- बाह्य तप बाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता है और दूसरे के देखने में आता है इसलिए इन्हें बाह्य तप कहा है।

प्रश्न- इन अंतरंग एवं बाह्य तप में कौन सा हेय है?

उत्तर :- महिलायें तवे पर रोटी सेकती हैं, यदि वे एक तरफ से सेक दें और दूसरी तरफ से नहीं सेकें तो हम कहेंगे कि रोटी कच्ची रह गई। इसी प्रकार यदि केवल अन्तरंग तप को महत्त्व दें, बहिरंग को नहीं तो वह परिपक्व तप नहीं होगा। सिक्के के दो पहलू हैं- एक के बिना दूसरे का, अस्तित्व संदिग्ध है। बिना बहिरंग तप के अन्तरंग तप की सिद्धि भी नहीं हो सकती है।

अन्तरंग तप की सिद्धि के लिए साधना के लिए बहिरंग तप नितान्त आवश्यक है। बिना बहिरंग तप के अन्तरंग तप कार्यकारी नहीं है। दूध पास में हो, पात्र न हो तो दूध का महत्त्व नहीं है। बहिरंग तप साधन है। तथा अन्तरंग तप साध्य है बिना अन्तरंग तप किये बहिरंग तप का भी मूल्य नहीं है। इसलिए बहिरंग तप को हेय कहकर, जड़ की क्रिया कहकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

(१) अनशन तपः- शुद्ध बुद्ध स्वरूप आत्मा के उप अर्थात् समीप में बसने का नाम उपवास है और आत्मा के समीप बसने के लिए पाँचों इन्द्रियों के दमन के लिये चारों प्रकार के आहार का त्याग करना आवश्यक है क्योंकि जो भोजन के लोलुपी होते हैं, उनकी इन्द्रियाँ उनके वश में नहीं होती, बल्कि वे स्वयं इन्द्रियों के दास होते हैं और जो इन्द्रियों के दास होते हैं वे अपनी शुद्ध बुद्ध आत्मा से कोसों दूर बसते हैं। अतः स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इन पाँचों विषयों की ओर अपनी-अपनी उत्सुकता छोड़कर पाँचों इन्द्रियों का शान्त रहना ही वास्तव में सच्चा उपवास है। इन्द्रियों को शान्त करने के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना व्यवहार से उपवास है। अतः जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीतकर वश में कर लिया है, वे मनुष्य भोजन करते हुए भी उपवासी हैं। सारांश यह है कि जितेन्द्रिय मनुष्य सदा उपवासी होते हैं। अतः इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

सच्चा उपवास करने वाला वही है जो मन और इन्द्रियों को अपने वश में रखता है, इस लोक और परलोक के भोगों की इच्छा नहीं रखता अर्थात् इस लोक में ख्याति लाभ और मन प्रतिष्ठा की भावना से तथा आगामी जन्म में स्वर्ग लोक की देवांगनाओं को भोगने की अभिलाषा से उपवास नहीं करता, तथा जो शुद्ध चिदानन्द स्वरूप परमात्मा में अथवा स्वात्मा में रमता है और अच्छे-अच्छे शास्त्रों के अध्ययन में तत्पर रहता है।

(२) अवमौदार्य तप- इसे अनशन तप से बड़ा तप माना है। अनशन तप में पूर्ण भोजन का त्याग है। अप्राप्त भोजन का त्याग करना सरल है, आसान है, जल्दी कर देंगे परन्तु आचार्य कह रहे हैं कि सामने पकवानों से सजी थाली आ जाये उसके उपरान्त त्याग करो या भूख से कुछ कम खाओ तभी तुम्हारा त्याग है।

अप्राप्त वस्तु को क्या त्यागे, प्राप्ति को त्यागे सो त्यागी है ॥

जो मिला नहीं उसे क्या त्यागना, त्यागने के बाद भोजन की, पकवान की चाह न करना, केवल त्याग के आनन्द का अनुभव करना, अपने आपको धन्य समझना कि मैं आज भोजन से बच गया, आज मैंने रसना

इन्द्रिय को जीत लिया। भोजन को मैंने नहीं खाया। बल्कि मैंने भोजन को जीता है। अब तक भोजन साध्य और मैं साधन था, किन्तु आज भोजन साधन और मैं साध्य हो गया। अवमौदार्य का अर्थ है 'भूख से कुछ कम खाना' भोजन से आसक्ति भाव का त्याग करना जितना आवश्यक था उससे भी कम ग्रहण करना। जितना शरीर चलाने के लिए जरूरी है उतना ही लेना। अधिक ऊर्जा का निर्माण नहीं होने देना। जितना तप, ध्यान, स्वाध्याय के लिए आवश्यक है उतना ही देना। अनशन तप में शरीर को ऊर्जा मिलना बन्द हो जाता है किन्तु अवमौदार्य तप में आवश्यकतानुसार उसे ऊर्जा मिलती है, जिस प्रकार गाड़ी के लिए पेट्रोल आवश्यक है, उसी तरह शरीर को चलाने के लिए कुछ मात्रा में भोजन आवश्यक है, ज्यादा पैट्रोल देने पर अग्नि भड़क उठेगी उसी तरह ज्यादा ऊर्जा मिलने पर शरीर का उपयोग बदल जायेगा।

(३) वृत्ति परिसंख्यान तप :- किसी घर में स्वादिष्ट भोजन मिलता देखकर बार-बार उसी घर में आहार के लिए जाने का भाव पैदा न हो जावे, इसके लिए वृत्ति परिसंख्यान का विधान जिनागम में किया है, यह भी तप है क्योंकि इससे चित्त का अवरोध एवं आशा तृष्णा की निवृत्ति होती है।

साधुजन आहार के लिए निकलते हैं तब कुछ नियम लेकर निकलते हैं वे नियम अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जैसे द्रव्य दाता युवा हो या वृद्ध हो, दो हों, तीन हों इत्यादि। उस एक गृह में, उस गली में, उस एक मोहल्ला में व्यक्ति हो तो आहार लेंगे अथवा नहीं। इस प्रकार नाना प्रकार अभिग्रह सम्भव है।

(४) रस परित्याग तपः- शरीर और इन्द्रियों में रागादि को बढ़ाने वाले घी, दूध, शक्कर, तेलादि रसों के त्याग को रस परित्याग कहते हैं। अथवा अपने को अच्छे लगने वाले स्निग्ध,मधुर, खट्टादि रसों के त्याग को रस परित्याग कहते हैं। इन रसों का त्याग क्रम से अथवा एक साथ किया जाता है। मुक्ताचार में कहा है- दूध, दही, घी, तेल, शक्कर और नमक को छोड़ना अथवा तीखा, कडुआ, कसैला, खट्टा और मीठा रस छोड़ना रस परित्याग है।

साधु को कैसा भोजन करना चाहिए यह बतलाते हुये- कार्तिकेया-

नुप्रेक्षा में लिखा है। जो नीरस हो, तुरन्त का बनाया हुआ गर्मागर्म न हो अर्थात् शीतल हो गया हो, दाल-भात या दाल-रोटी हो, अकेला शाक हो, रूखा हो, आचम्ल हो या आचम्ल ओदन (गरम पानी में मिले हुए खूब पके चावल) हों इस तरह का भोजन साधु के लिए करने योग्य है।

(५) विविक्त शय्यासन तप :- एकान्त स्थान में सोना, बैठना, रहना विविक्त शय्यासन तप है।

आत्म-साधना के लिए शांत वातावरण की आवश्यकता है, क्योंकि जहाँ पर कोलाहल, विविध शब्द या हल्ला-गुल्ला हो रहा है वहाँ चित्तवृत्ति उस ओर चली जाती है। इसके सिवाय अनेक पुरुष, स्त्री, बालक आदि हों वहाँ पर उनको देखने के लिए कारणवश उनसे बातचीत करने तथा अन्य प्रकार से उस ओर से हटकर सांसारिक बातों की ओर खिंच जाया करती हैं, आत्म-ध्यान नहीं होता।

इन विघ्न-बाधाओं से दूर रहने के लिए मुनिजन-सम्पर्क से दूर एकांत निर्जन स्थान में रहते हैं और कभी किसी वन में रहने लगते हैं कभी किसी पर्वत पर जा विराजते हैं और कभी किसी गुफा, मठ आदि में रहते हैं। भोजन के लिए निकटवर्ती गाँव या नगर में आते हैं, आहार करके फिर अपने उसी गुफादि एकान्त स्थान पर लौट जाते हैं। यदि कभी कुछ दिनों के लिए किसी गाँव या नगर में रहना पड़े तो वहाँ भी मन्दिर, चैत्यालय, धर्मशाला आदि किसी एकान्त स्थान में ही ठहरते हैं। जिससे उनके ध्यान, सामायिक, स्वाध्यायादि क्रिया में विघ्न न पड़ने पावे।

(६) काय क्लेश तपः - तपस्वी मुनि ग्रीष्म ऋतु में दुःसह सूर्य तथा शांत ऋतु में अर्थात् पौष और माघ के महीने में नदी, समुद्र आदि के किनारे पर अथवा वन के बीच में किसी खुले हुए स्थान पर योग धारण करते हैं, वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे योग धारण करते हैं, जहाँ वर्षा रूक जाने पर भी पत्तों से पानी टपकता रहता है और झंझा वायु बहती है। इस तरह गर्मी-सर्दी और वर्षा का असह्य कष्ट सहने पर भी उनका चित्त कभी खिन्न नहीं होता। इसके सिवाय वे देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा किये हुए दुःसह उपसर्गों को और भूख-प्यास के परिषह को भी सहते हैं, उन

मुनियों का काय-क्लेश नाम का तप होता है। चारित्रसार आदि ग्रंथों में भी कहा है-वृक्ष के मूल में ध्यान लगाना, निरभ्र आकाश के नीचे आतापन योग धारण करना, वीरासन, कुक्कुटासन, पर्यंकासन आदि अनेक प्रकार आसन लगाना, अपने शरीर को संकुचित करके शयन करना, ऊपर को मुख करके सीधा सोना, मगर के मुख की तरह या हाथी की सूँड की तरह अथवा मुर्दे की तरह व दण्ड की तरह निश्चल शयन करना, एक करवट से सीधा सोना या धनुष की तरह शयन करना इत्यादि प्रकारों से शरीर को कष्ट देना काय क्लेश तप है।

(७) **प्रायश्चित तप** :- प्रायश्चित अनेक प्रकार से किया जाता है, किन्तु स्थूल रूप से दो विधियाँ हैं- (१)अपने गुरु या संघ नायक के सामने अपराध को शुद्ध मन से यथार्थ कह दे और आचार्य महाराज उसका जैसा भी दण्ड दें उसको सहर्ष पालन करें। (२) यदि गुरु, आचार्य महाराज का समागम न हो तो स्वयं प्रतिक्रमण करके अपनी समझ के अनुसार उसका दण्ड ले लेवें।

प्रायश्चित मुनि की शारीरिक दशा, देश, काल के अनुसार उपवास, ध्यान, त्याग आदि के रूप में दिया जाता है। लोहाचार्य को उनके गुरु ने सवालाख व्यक्ति नये जैन बनाने का प्रायश्चित दिया था, तदनुसार उन्होंने सवा लाख अग्रवालों को उपदेश देकर जैनधर्म में दीक्षित किया। प्रायश्चित में किसी मुनि की दीक्षा कम कर दी जाती है, किसी को दूसरे मुनि संघ में चले जाने का आदेश दिया जाता है। इस तरह आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जैसा कुछ उचित प्रतीत होता है, उसी तरह का प्रायश्चित दिया करते हैं।

आत्मा को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित भी उत्तम और सरल साधन है। जैसे अग्नि में तपाने से सोने की खोट निकल कर सोना शुद्ध हो जाता है, उसी तरह प्रायश्चित द्वारा आत्मा का दोष दूर हो जाता है और मन शुद्ध हो जाता है।

(८) **विनय तप**:- तप सिद्धि के लिए परमात्मा के आगमन के लिए अहंकार के तालों को खोलना अति आवश्यक है। जब तक अहंकार का

त्याग नहीं होता तब तक आत्म-उपलब्धि नहीं हो सकती है। आत्मा की बात दूर है गुरु की प्राप्ति भी असम्भव है।

अहंकार के साथ गुरु का चयन किया तो गुरु भी अहंकारी ही मिलेगा क्योंकि आप अहंकार से पूर्ण हैं। आप अपने कार्य स्वयं को दृष्टिगत करके करेंगे। गुरु स्थान द्वितीय रखेंगे। आपने अपने लिए गुरु नहीं शिष्य का चयन किया है। आप हमेशा गुरु की कमजोरियाँ ढूँढेंगे, क्योंकि स्वयं को श्रेष्ठ समझ रहे हैं।

जीवन प्रवेश का विनय अन्तर्नियम है। विनयवान के समक्ष समस्त विश्व की सम्पदा अर्पित हो जाती है। आप जितने विनयमान रहेंगे, उतने ही जीवन में आनन्द के स्रोत मिलेंगे। विनयवान का अर्थ है अपने देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धा करना, उनकी निःस्वार्थ भाव से सेवा करना। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना करना व्यवहार विनय है तथा निश्चय से निज स्वरूप में रमण करना निश्चय विनय है।

(९) वैयावृत तप :- गुरुजनों की वैयावृत्य करना चाहिए। यदि कोई रोगी हो उसको औषधि के द्वारा उठाना, बैठाना, उसको अनेक प्रकार से साता पहुँचाना मनुष्य मात्र को कर्तव्य है। धर्म से चलायमान होता देखकर उनके योग्य सामग्री का जुटा देना धर्मध्यान में दृढ़ कर देना भी वैयावृत्य है। इससे विशेष पुण्य बन्ध होता है। वैयावृत्य करने वाला अपने को सबसे लघु समझता है, इससे उसकी आत्मा उद्धनपना छोड़कर शांत दशा में आ जाती है। अपने माता-पिता की सेवा करना वैयावृत्य है। आजकल के अंग्रेजी पढ़े लिखे लड़के वैयावृत्य का नाम भी नहीं जानते हैं। भला उनके द्वारा किसी का क्या कल्याण हो सकता है। अतः हम अपना कल्याण चाहते हैं तो हर प्राणी के प्रति वैयावृत (सेवा) भाव रखें तभी हमारा कल्याण सम्भव है।

(१०) स्वाध्याय तपः- स्वाध्याय भी अन्तरंग तप है। स्वाध्याय को परम तप कहा गया है। स्वाध्याय परं तपः । आज तो हम प्रातः उठकर सबसे पहले समाचार पत्रों का स्वाध्याय करने लगे हैं।

यहाँ-वहाँ का कुछ भी पढ़ लेना स्वाध्याय नहीं है, आत्म-हितकारी

शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिन्तन भी उपचार से स्वाध्याय है। वास्तविक स्वाध्याय तो आत्म-ज्ञान का प्राप्त होना ही है। स्व+अधि+अय=स्वाध्याय। 'स्व' माने निज, का,'अधि' माने ज्ञान और 'अय' माने प्राप्त होना-इस प्रकार निज का ज्ञान प्राप्त होना ही स्वाध्याय है, पर का ज्ञान तो पराध्याय है।

यद्यपि स्वाध्याय के भेदों में वांचना, पृच्छना आदि आते हैं तथापि यदा-तदा कुछ भी वांचना, पूछना स्वाध्याय नहीं है। क्या वांचना? कैसे वांचना? क्या पूछना? किससे पूछना? कैसे पूछना? आदि विवेकपूर्ण किये वांचना, पृच्छना आदि ही स्वाध्याय कहे गये हैं।

उपदेश का क्रम सबसे अन्त में आता है पर आज हम उपदेशक पहले बनना चाहते हैं- वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आम्नाय के बिना ही धर्मोपदेश को सुनने वाले भी इसके प्रति सावधान नहीं दिखाई देते। धर्मोपदेश के नाम पर कोई भी उन्हें कुछ भी सुनायें वे सुन लेते हैं, वक्ता और वक्तव्य पर उनका कोई ध्यान ही नहीं रहता।

मैं एक बात पूछता हूँ यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने, चाहे जिससे करा लेंगे? डॉक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नहीं होता। डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर, यदि हम कुर्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते हैं और दर्जी भी यदि कुर्ता सीना नहीं जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है। पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि धर्मोपदेश देने और सुनने को हम गम्भीर रूप ग्रहण ही नहीं करते, यो ही हल्के-फुल्के निकाल देते हैं अरे भाई! धर्मोपदेश भी एक तप है, वह भी अंतरंग, इसे आप खेल समझ रहे हैं, इसकी गम्भीरता को जानिये-पहचानिये। उपदेश लेने-देने की गम्भीरता को समझिये, इसे मनोरंजन और समय काटने की वस्तु मत बनाइये।

(११) व्युत्सर्ग तप :- शरीर के प्रति ममत्व परिणामों का त्याग ही व्युत्सर्ग है। शरीर केवल आत्म-साधन में सहायक है, साधन है, साध्य नहीं। शरीर के ऊपर अपनी मालकियत जमाना शरीर के अनुसार चलना नहीं बल्कि अपने मतानुसार शरीर चलाना, स्वयं के स्वामित्व का प्रयोग करना

चाहिए। जब शरीर कहता है भोजन तब तपस्वी कहता है-मात्र भोजन ही नहीं दूँगा-भोजन मिलेगा, पर समय से विधिपूर्वक, बत्तीस अन्तराय एवं छयालीस दोषों को टालकर मिलेगा। तब इन्द्रियाँ भोजन के पीछे नहीं भागेंगी। बल्कि भोजन शरीर के पीछे भागेगा।

जब शरीर कहता है-मुझे लिटाओ, तप तपस्वी उसे कायोत्सर्ग में खड़ा करता है। अतः शरीर साधन एवं आत्मा साध्य है। इसी का नाम ''व्युत्सर्ग तप'' है शरीर के ममत्व परिणाम दुःख के कारण हैं, उन ममत्व परिणामों का त्याग करना ही व्युत्सर्ग तप को स्वीकारना है।

'व्युत्सर्ग तप' का अर्थ है-मूल स्रोत की खोज करना, दुःखों के मूल कारण का त्याग करना आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना, सारे दुःखों की जननी का ज्ञान करना, समस्त रोगों की जड़ क्या है? को जानना। इन सब घटनाओं के आप ही जिम्मेदार हैं, अन्य कोई नहीं, आपका ही मन ममत्व परिणामों के कारण उत्पाद मचा रहा है वही मन, ज्ञान-अज्ञान, सुख और दुःख को ला रहा है क्योंकि शरीर के प्रति ममत्व भाव जो है।

(१२) ध्यान तपः- ''एकाग्र चिन्ता निरोधाध्याम्''।

किसी भी विषय पर चित्तवृत्ति का एकाग्र होना ध्यान है। विचारों का मूल साधन मन है। मन के द्वारा अनेक तरह के शुभ-अशुभ शुद्ध विचार हुआ करते हैं। जिससमय शरीर और वचन की क्रिया बन्द रहती है। सोते समय शरीर और वचन निश्चेष्ट रहते हैं किन्तु मन उस समय भी अपना कार्य नहीं छोड़ता है। अनेक तरह के स्वप्न दिखाई मन का ही कार्य है। बिना स्त्री सम्पर्क के पुरुषों को सोते समय मन के दूषित विचारों के कारण ही स्वप्न दोष हो जाता है। अतः मन से उपयोगी कार्य लेने का अभ्यास करना चाहिए।

वास्तविक निर्जरा तत्त्व जो मोक्षमार्ग में कारणभूत है वह यह निर्जरा तत्त्व है। इसको पाये बिना मोक्षमार्ग नहीं । यह तत्त्व बिना तप नहीं आता। आप पूछ सकते हैं कि महाराज! हम सारे गृहस्थ ही तो हैं और हमारे पास कहाँ का तप आयेगा? तप तो आपके लिए बताये गये हैं और वे बारह तप हैं। पर ऐसा नहीं है। निर्जरा की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने बताया है कि निर्जरा कहाँ से प्रारंभ होती है। उन्होंने लिखा है कि जो भगवान का सच्चा

उपासक होता है उसी से, वहीं से यह प्रारंभ होती है अर्थात् गृहस्थ आश्रम में भी यह निर्जरा होती है। अविपाक निर्जरा बाद में तप के माध्यम से अर्थात् संयम के माध्यम से हुआ करती है। महाराज! हमारे पास कोई संयम तो है नहीं, हम असंयमी हैं। क्यों नहीं है संयम? एक असंयम को तो आपने उड़ा ही दिया है। जो कि अनंतानुबंधी था, जब चला जाता है तो बहुत जल्दी मार्ग प्रशस्त होने लग जाता है और दूसरी बात यह है कि दर्शन मोहनीय जो भुलावे में डालने वाला होता है उसको मेटने के उपरान्त एक और शक्ति आ जाती है। एक आँख में अगर खराबी हो जाये तो दूसरी में भी पानी आने लग जाता है। उसी प्रकार एक दर्शन मोह को ज्यों ही धक्का लग गया दूसरा मोह सोचता है कि आज नहीं तो कल यह प्रहार मेरे ऊपर भी होगा। एक आँख का ऑपरेशन हो गया तो दूसरी आँख का भी कराना पड़ेगा। दोनों का कनेक्शन है, दो हैं लेकिन दोनों का ऐसा सम्बंध है ऐसा गठबंधन है। उसी प्रकार एक मोह को जब धक्का लग जाता है, तो दूसरे मोह को धक्का लग ही गया समझो, बल्कि यूँ कहना चाहिए कि दर्शन मोहनीय की बहुत ही कम शक्ति रह गयी इसलिए निर्जरा तत्त्व वहीं से प्रारंभ हो जाता है। यह निर्जरा तत्त्व पूर्ण बंध को रोक नहीं सकता इसलिए उसे मूल रूप से निर्जरा तत्त्व में नहीं गिनते किन्तु गिनती में प्रथम तो वह आ ही गया। ये तप मुनियों के होते हैं और उस तप द्वारा कर्मों की निर्जरा की जाती है। श्रावक के कर्मों की निर्जरा कैसी होगी? इस प्रश्न का उत्तम आचार्यों ने इस प्रकार बता दिया है। श्रावक के षट् कर्म करने से ही उनको कर्मों की निर्जरा होती है। यह इस प्रकार हैः

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय संयम तपः ।
दानश्चेति श्रावकाणां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

(१) देवपूजा (२) गुरु की उपासना (३) स्वाध्याय (४) संयम (५) तप (६) दान ये छः कर्म हैं।

जगत के सभी प्राणी कर्म रूपी मल धोकर आत्मा रूपी गंगा में निमग्न हों, इसी पावन पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

***

10 लोकानुप्रेक्षा

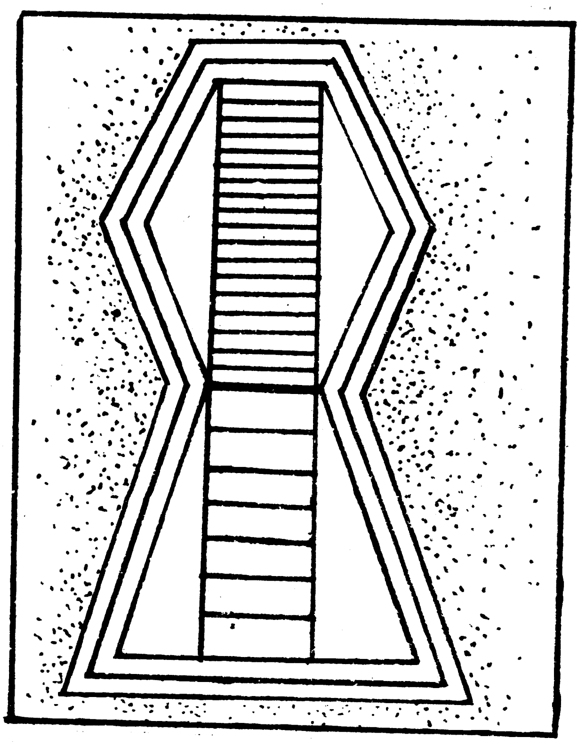

लोक

10 लोकानुप्रेक्षा

लोक क्या है, उसमें किस भाँति की रचना है, कैसे जीव रहते हैं और लोक में कैसा भ्रमण होता है? इन सब विषयों का चिन्तन ही लोकानुप्रेक्षा है। लोक शब्द का अर्थ है जहाँ समस्त पदार्थ देखे जायें। लोक शब्द 'लुक' धातु से बना है, जिसका अर्थ देखना होता है अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल जहाँ ये छः द्रव्य पाये जाते हैं उसका नाम लोक है। **"धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यंते सः लोकः ।"** यह लोक कहाँ है? समस्त आकाश के मध्य स्थित है। आकाश अनन्त है। कल्पना करें कि कोई अनगिनत वर्षों की उम्र वाला मनुष्य हो और बहुत तेजी से गमन करता हुआ चला जाय तो क्या उसको कोई ऐसा स्थान मिलेगा कि जिसके बाद आकाश न

हो? आकाश का अंत नहीं आ सकता, स्थूल रूप में यों जान लो कि आकाश है वह एक पोल ऐसी चीज है और पोल का अंत नहीं है। आकाश कोई अभावात्मक वस्तु नहीं है, किन्तु सद्‌भावरूप अनन्त प्रदेशात्मक एक पदार्थ है। ऐसे अनन्त आकाश के मध्य यह लोक है।

लोक का आकार व परिमाण :- लोक का आकार इस तरह का है कि जैसे मानो ७ लड़के एक सी ऊँचाई वाले हैं, एक के पीछे एक खड़े हो जायें और वे ७ लड़के पैर पसारकर कमर पर हाथ रखकर खड़े हों तो लोक का आकार बनता है। उसमें मानो कि एक पैर से दूसरे पैर तक नीचे जितनी दूर है वह है ७ राजू प्रमाण और नीचे से लेकर ऊपर सिर की ग्रीवा तक वहीं तक लोक है। उसका परिणाम है- १४ राजूप्रमाण १ और नीचे से ७ राजू घटते-घटते जो कटिभाग तक घट गया है वहाँ है एक राजूप्रमाण। फिर इस पर जो कमर पर हाथ रखने से टेहुनियाँ फैली हुई हैं तो उनका क्षेत्र है ५ राजूप्रमाण १ फिर वे टेहुनियाँ और सिकुड़कर कंधे ग्रीवा तक जो क्षेत्र रह गया वह है एक राजूप्रमाण, लेकिन पीछे की तरह सब जगह ७-७ राजू हैं, ७ लड़के हैं। पैर के अंगूठे की तरफ देखो तो ७ राजू हैं। बीच में कहीं भी निरखो सर्वत्र ७-७ राजू हैं। इस तरह गणित के अनुसार यह लोक ३४३ घन राजूप्रमाण बन जाता है। अब एक राजू का प्रमाण कितना बड़ा है? जिसका एक मध्यलोक के परिमाण के उदाहरण से बताया है। यह मध्यलोक जो कटि भाग पर है। नक्शे में वह मध्यलोक है एक राजू प्रमाण सूत्री वाला, जिसमें कि असंख्यात द्वीप समुद्र समाये हुए हैं जो एक दूसरे को घेरे हुए हैं। उसमें जो प्रथम द्वीप है जम्बूद्वीप, उससे दूना है समुद्र उससे दूने विस्तार का है द्वीप इस तरह से एक और दूना विस्तार चला गया है। जम्बूद्वीप है एक लाख योजन प्रमाण। तब ध्यान में लाइये कि एक राजू कितना बड़ा होता है? ऐसे ३४३ धनराजू प्रमाण यह लोक है।

लोक की अनादि सिद्धता :- इस लोक को किसी ने देखा नहीं है, क्योंकि लोक नाम है समस्त पदार्थ के समूह का। जो पदार्थ, वह है, जो नहीं है वह नहीं है। कभी सत् का विनाश नहीं होता और असत् उत्पत्ति नहीं होती- यह बात वस्तु के स्वरूप से ही सिद्ध है। प्रत्येक पदार्थ सत् है और

सत् का यह लक्षण है- उत्पाद व्यय ध्रोव्यक्तं सत्। जो उत्पाद् व्यय ध्रौव्य से युक्त हो वह सत् कहलाता है। वस्तु है, इस नाते से उसमें उत्पाद व्यय पड़ा हुआ है। प्रत्येक पदार्थ इसी लक्षण के कारण प्रतिसमय में नवीन पर्यायों से व्यक्त होता है। और पुराने पर्यायों से विलीन होता है। ऐसे उत्पाद व्यय निरन्तर होते रहते हुए भी सदा उस वस्तु पदार्थ का सत्व रहता है। जब उत्पाद व्यय ध्रोव्यत्मकता पदार्थ का स्वरूप है तो इससे सिद्ध है कि पदार्थ किसी के द्वारा किये गये नहीं हैं। इसमें उत्पाद व्यय ध्रोव्य का विश्लेष्ण किया जाय तो यों समझना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त शक्ति है और समस्त शक्तियों का प्रति समय कोई न कोई परिणमन रहता है। ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि भाव शक्ति हो और उसका व्यक्त रूप कुछ न हो, जो शक्तियाँ हैं उनका नाम है गुण और शक्ति के व्यक्त परिणमन हैं उनका नाम है पर्याय. प्रत्येक पदार्थ गुणपर्याय रूप है। गुण तो है ध्रुव और पर्याय है अध्रुव। अगुणों का जब भेद दृष्टि से दर्शन करे तो उनका नाम है द्रव्य परन्तु यह सब भेद कथन समझने के लिए है वस्तुतः द्रव्य तो अव्यक्त है, परन्तु द्रव्यभूत उस स्वभाव को समझने के लिए भिन्न शक्तियों के रूप में व्यवहार है और यह अनुरूप व्यवहार है। इसी कारण तथ्य भूत है।

इस लोक का किसी चेतन, प्रभु, धुरी आदि के द्वारा धारण किये जाने का अभाव- इस लोक को किसी ने धारण नहीं किया। कुछ पुराने लोगों की मान्यता है कि इस लोक को किसी भगवान ने अपनी अँगुली पर रखा है अथवा भगवान का कोई अवतार हुआ, जैसे सूकर के रूप में उसने पृथ्वी को धारण किया, शेष इस पृथ्वी को धारण किये हैं- ऐसी कुछ लोगों की धारणा है। वर्तमान में वैज्ञानिकों की धारणा है कि यह पृथ्वी एक धुरी पर टिकी हुई है लेकिन यह पृथ्वी किसी भी आधार पर नहीं है। पृथ्वी का आधार बात-बलय आधार है, पर कोई मनुष्य चेतन, अवतार, ईश्वर ये इस पृथ्वी के अधिकरण नहीं हैं। इस पृथ्वी को शेषनाग धारण किये हुए है। इस शब्द में अर्थ यह निकलता है कि पृथ्वी वायु-बलय के आधार से है। शेषनाग का वायु कैसे अर्थ निकला? नाग में तीन शब्द हैं- न-अ-ग, गच्छति इतिगः जो गमन करे, चले उसको ग कहते है। ग का अर्थ हुआ वायु। हवा ही एक

ऐसी है जो चलती रहती है, और न गच्छति इति अगः। जो न चले उसे अग कहते हैं अर्थात् अवायु और न अग इति नागः अर्थात् अवायु नहीं इसका अर्थ है वायु। शेष अर्थात् बची हुई या अन्त में पड़ी हुई अर्थात् सारे लोक में सर्वत्र हवा भरी हुयी है-लेकिन लोक के अन्त में कोई विशेष हवा है जिसका नाम वात-बलय है। इस पुरुषाकार लोक के चारों ओर धन वात-बलय, धनोदधि, वात-बलय और तनुवातबलय नामक तीन बड़ी हवायें हैं जिनके आधार पर यह लोक टिका हुआ है, पर इसे किसी जीव ने अथवा किसी अवतार ने धारण किया हो, ऐसी बात नहीं है। न तो शेषनाग ने धारण किया है, न किसी ने इसका विनाश किया है और न कोई करेगा। ऐसे आकाश बीच में स्थित ३४३ घन राजूप्रमाण लोक है। ऐसे लोक में जीव प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्मा और मरा। इतने बड़े लोक में जो पुद्गल का ढेर हैं, यह प्रत्येक जीव ने अनन्त बार भोगा और छोड़ा है। यह सब स्पष्ट बताने के लिए लोकानुप्रेक्षा का वर्णन किया है। एक हिन्दी कवि ने कहा है-

किनहू न करौ न धरै को, षट्द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक माँही बिन समता, दुःख सहे जीव नित भ्रमता।

अर्थात्- यह लोक छः द्रव्यों से युक्त है। इसे कोई धारण किए हुए नहीं है। ऐसे लोक में समभाव के बिना यह जीव दुःख भोग रहा है। लोक का वर्णन-आचार्य कुमारस्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इसप्रकार किया है-

सत्तेक्कं पंच-इक्का मूले मज्जे तहेव बंभते।
लोयंते रज्जुओ पुव्वावरदो य वित्थारो ॥११८॥

अर्थात्- पूरब पश्चिम दिशा में लोक का विस्तार मूल में अर्थात् अधोलोक के नीचे सात राजू है। अधोलोक के ऊपर क्रमशः घटकर मध्यलोक में एक राजू का विस्तार है। भावार्थ-लोक पुरुषाकार है। कोई पुरुष दोनों पैर फैलाकर और दोनों हाथों को कटिप्रदेश के दोनों ओर रखकर यदि खड़ा हो तो उसका जैसा आकार होता है, वैसा ही आकार लोक का जानना चाहिए अतः पुरुष का आकार लोक के समान कल्पना कर उसका पूर्व-पश्चिम

विस्तार इसप्रकार जानना चाहिए। पञ्जों के अन्तराल का विस्तार ७ राजू है। कटिप्रदेश का विस्तार एक राजू है। दोनों हाथों का एक कोहनी से दूसरी कोहनी तक का विस्तार पाँच राजू है। ऊपर शरीरादि का विस्तार एक राजू है। आगे आचार्य लोक कां दक्षिण-उत्तर दिशा में विस्तार, एवं उर्ध्वविष्कम्भ व सर्व धनफल दिखाते हैं-

दक्षिण-उत्तरदो पुण सत्त वि रज्जू हवंति सव्वत्थ।
उड्ढं चउदह रज्जू सत्त वि रज्जू छेणो लोओ ॥११९॥

भावार्थ :- पूर्व-पश्चिम दिसा में जैसा घटता बढ़ता विस्तार है, वैसा दक्षिण-उत्तर दिशा में नहीं है। दक्षिण उत्तर दिशा में सब जगह सात राजू विस्तार है तथा लोक की नीचे से ऊपर ऊँचाई चौदह राजू है और लोक का क्षेत्रफल सात राजू का घन है। तीन समान राशियों को परस्पर में गुणा करने से घन आता है। अतः सात राजू का घन ७ × ७ × ७ = राजू होता है। इस क्षेत्रफल की रीति निम्न प्रकार है। पहले अधोलोक का क्षेत्रफल निकालते हैं। त्रिलोकसार में कहा है कि ''जोगदले पदगुणिदे फलं घणो वेघगुणिदफलं॥'' मुख और भूमि को जोड़कर उसका आधा करो, और उस आधे को पद से गुणा कर दो तो क्षेत्रफल होता है और क्षेत्रफल को ऊँचाई से गुणा करने पर घनफल होता है। इस रीति के अनुसार मुख १ राजू, भूमि ७ राजू, दोनों को जोड़कर ७+१ = ८ आधा करने से ४ होते हैं। इस ४ राजू को पद-दक्षिण उत्तर विस्तार ७ राजू से गुणा करने पर ४ × ७ = २८ राजू क्षेत्रफलको अधोलोक की ऊँचाई सात राजू से गुणा करने पर २८ × ७=१९६ राजू अधोलोक का घनफल होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक का भी घनफल निकाल लेना चाडिए। अर्थात मुख १ राजू, भूमि ५ राजू, दोनों का जोड़, उसका आधा ३ राजू, इस ३ राजू को पद ७ राजू से गुणा करने पर ७ × ३=२१ राजू आधे ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल होता है। इसे ऊँचाई साढ़े तीन राजू से गुणा करने पर २१ × ७/२=१४७ राजू आधे ऊर्ध्वलोक का घनफल होता है। इसको दुगुना कर देने से १४७ राजू पूरे ऊर्ध्वलोक का घनफल होता है। अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के घनफल को जोड़ने से १९६+१४७=३४३राजू पूरे लोक का घनफल होता है। गाथा में आये क्षेत्रफल

शब्द से घन क्षेत्रफल ही समझना चाहिए। तीनों लोकों की ऊँचाई का विस्तार कहते हैं:

मेरुस्स हिट्ठ-भाए सत्त वि रज्ज हवेइ अह-लोओ।
उड्ढम्मि उड्ढ-लोओ मेरु-समो मज्झिमो लोओ ॥१२०॥

अर्थ :- मेरुपर्वत के नीचे सात राजूप्रमाण अधोलोक है। ऊपर ऊर्ध्वलोक है। मेरु प्रमाण मध्यलोक है।

भावार्थ:- मेरू शब्द का अर्थ माप करने वाला होता है। जो तीनों लोकों का माप करता है, उसे मेरु कहते हैं। (''**लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति**।'' राजवा. पृ. १२७) जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊँचा मेरुपर्वत स्थित है। वह एक हजार योजन पृथ्वी के अन्दर है और ११हजार योजन बाहर।

(जम्बूद्वीपे महामन्दरो योजनसहस्रवगाहो भवति नवनवति योजनसहस्रोच्छाय: । तस्याधस्ताद्धोलोक:। बाहुल्येन तत्प्रमाण: तिर्यक्प्रसृतस्तिर्यग्लोक:। तस्योपरिष्टादूर्ध्वलोक:। मेरूचूलिका चत्वादिश योजनोच्छाया तस्या उपरि केशान्तरमात्रे व्यवस्थित मृजु विमान मिन्द्रकं सौधर्मस्य।'' सर्वार्थ पृ. १९५ अनु.)

उसके ऊपर ४०योजन की चूलिका है। रत्नप्रभा नामक पहली पृथ्वी के ऊपर यह स्थित है। इस पृथ्वी के नीचे शर्करा प्रभा, बालक-प्रभा, पङ्कप्रभा, धमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा नाम की ६ पृथ्वियाँ और हैं। सातवीं पृथ्वी के नीचे १ राजू में निगोद स्थान है। ये सभी पृथ्वियाँ धनोदधि और तनुवात नामके तीन वातवलयों से वेष्टित हैं। मेरु से नीचे का सात राजू प्रमाण यह सब क्षेत्र, अधोलोक कहलाता है। ऊपर सौधर्म स्वर्ग के ऋजुविमान के तल से लेकर लोक के शिखर पर्यन्त सात राजू क्षेत्र को ऊर्ध्वलोक कहते हैं। (मेरू की चूलिका और ऋजुविमान में एक बाल मात्र का अन्तर है॥) सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर तथा सिद्धशिला, ये सब ऊर्ध्वलोक में सम्मिलित हैं। अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के बीच में सुमेरु पर्वत के तल से लेकर उसकी चूलिका पर्यन्त एक लाख चालीस योजन प्रमाण ऊँचा क्षेत्र मध्यलोक कहलाता है। शङ्का-लोक ऊँचाई चौदह राजू बतलाई है। उसमें

सात राजू प्रमाण अधोलोक बताया है और सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक बतलाया है। ऐसी दशा में मध्यलोक ऊँचाई एक लाख चालीस योजन अधोलोक में सम्मिलित है या ऊर्ध्वलोक में या दोनों से पृथक् ही है। उत्तर- मेरु के तल से नीचे सात राजू प्रमाण अधोलोक है और तल से ऊपर सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है। मध्य लोक की ऊँचाई ऊर्ध्वलोक में सम्मिलित है। सात राजू की तुलना में एक लाख योजन ऐसे ही हैं, जैसे पर्वत की तुलना में राई। अतः उन्हें अलग नहीं किया है। यथार्थ में ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई एक लाख चालीस योजन कम सात राजू जाननी चाहिए।

लोक के मस्तक पर तनुवातवलय में कर्म और नो कर्म से रहित तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। जो अन्तरहित-अविनाशी है, अथवा जो अन्तरहित अनन्त है। जिन जीवों से यह लोक भरा हुआ है, उन्हें बतलाते हैं।

एइंदिएहिं भरिदि पंच-पयारेहि सव्व दो लोओ।
तस-णाडीए वितसा ण बहिरा होंति सवत्थ ॥१२२॥

अर्थ :- यह लोक पंचप्रकार के एकेन्द्रिय जीवों से सर्वत्र भरा हुआ है, किन्तु त्रस जीव त्रस नाली में ही होते हैं, उसके बाहर सर्वत्र नहीं होते ।

भावार्थ - पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय, जीव ३४३ राजूप्रमाण सभी लोक में भरे हुए हैं किन्तु त्रस अर्थात् दो इन्द्रिय, तैंइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, जीव त्रसनाली में ही पाये जाते हैं। उद्खल (कोशकारों ने उद्खल का अर्थ ओखली और जुगुलवृक्ष किया है। यहाँ वृक्ष लेना ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति तथा त्रिलोकसार में त्रसनाली की उपमा वृक्ष के सार अर्थात् छाल वगैरह के मध्य में रहने वाली लकड़ी से दी है।) के बीच में छेद करके उसमें रखी हुई बाँस की नली के समान लोक के मध्य में चौकोर त्रसनाली है। उसी में त्रस जीव रहते हैं। उपपाद और मरणान्तिक समुद्धात के सिवाय त्रसजीव उससे बाहर नहीं रहते हैं।

''उववादमारणंतियपरिणदतसमुज्झिऊण सेसतसा। तसणालिया हिरम्हि य णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्टं ॥ १९२ ॥'' (गौ. जीवकाण्ड)

त्रसनाली से बाहर का कोई एकेन्द्रिय जीव त्रसनाम कर्म का बंध करके मृत्यु के पश्चात त्रसनाली में जन्म लेने के लिए गमन करता है, तब उसके त्रस नाम कर्म का उदय होने के कारण उपपाद की अपेक्षा से त्रस जीवन त्रसनाली के बाहर पाया जाता है। तथा, जब कोई त्रस जीव त्रस नाली से बाहर एकेन्द्रिय पर्याय में जन्म लेने से पहले मरणान्तिक समुद्धात करता है, तब त्रस पर्याय में होते हुए भी उसका आत्मा के प्रेक्षा त्रसनाली के बाहर पाये जाते हैं **'ण बाहिरा होंति सत्वव्थं के स्थान में ण बादरा होंति सव्वत्थ'** ऐसी भी पाठ है। इसका अर्थ होता है कि बादर जीव अर्थात् स्थूल पृथ्वीकायिक वगैरह एकेन्द्रिय जीव तथा त्रसजीव के सर्वलोक में नहीं रहते हैं। क्योंकि जीवकाण्ड में लिखा है- ''स्थूलजीव आधार से ही रहते हैं'' (आधारे थूलाओ ॥ १९३॥) शंका-क्या त्रस नाली में सर्वत्र त्रस जीव ही रहते हैं। उत्तर - त्रस नाली में त्रसजीव रहते हैं यह सामान्य कथन है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति में इसका विशेष कथन किया है। (''**लोयबहुमज्झदेसे तरम्मि सारं व रज्जुपदरजुदा। तेरस रज्जुस्सेहा किंचूणा होदि तसणाली ॥ ६ ॥**'' **द्वि. अधि.**) उसमें कहा है- ''वृक्ष में उसके सार की तरह, लोक के ठीक मध्य में एक राजू लम्बी एक राजू चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रस नाली है।'' शंका - त्रसनाली को कुछ कम तेरह राजू ऊँची कैसे कहा है? उत्तर- सातवीं महातमः प्रभा नामकी पृथ्वी आठ हजार योजन बड़ी है (देखो, त्रिलोकसार गा. १७४ की टीका) उसके ठीक मध्य में नारकियों के श्रेणीबद्ध बिल बने हुए हैं। उन बिलों की मोटाई ३/४ योजन है। इस मोटाई को समच्छेद करके पृथ्वी की मोटाई में घटाने से २४००/३-४/३=८८९००/३ योजन शेष बचता है। इसका आधा ११९९६/३योजन होता है। भाग देने पर ३९९९ १/३ योजन आते हैं। इतने योजनों के ३१९९९४६६६ २/३ धनुष होते हैं। यह तो नीचे की गणना हुई । अब ऊपर की लीजिये। सर्वार्थसिद्धि समान से ऊपर १२ योजन पर ईपत्प्राग्भार नामकी आठवीं पृथ्वी है, जो आठ योजन बड़ी है। (''**तिहुवणमुड्ढारुढा ईसिपभारा धरट्ठमी रुंदा। दिग्धा इगिसगरज्जू अणजोयणमिद- वाहल्ला ॥ ५५६ ॥**'' त्रिलोकसार अर्थ :- तीनों लोकों के मस्तक पर आरूढ़ ईषत्प्राभार नामकी आठवीं पृथ्वी है। उसकी

चौड़ाई एक राजू, लम्बाई सात राजू और मोटाई ८ योजन है।) १२योजन के ९६००० धनुष होते हैं। और आठवीं पृथ्वी के ८योजन के ६४००० धनुष होते हैं। ("**कोसाणं दुगमेक्कं देसूणेक्कं च लोयसिहरम्भि। ऊणधणूणपमाणं षणुवीसज्झहिय- चारिसयं ॥ १२६ ॥" त्रिलोकसार।**)

अर्थ :- लोक के शिखर पर तीनों वातवलयों का बाहुल्य दो कोस, एक कोस और कुछ कम एक कोस है। कुछ कम का प्रमाण ४२९ धनुष है। अतः तीनों वातवलयों का बाहुल्य ४०००+ २०००+ १५९५= ७५७५ धनुष होता है। क्योंकि एक कोस के २००० धनुष होते हैं। उसके ऊपर तीनों वातवलयों की मोटाई ७५७५ धनुष है। इन सब धनुषों का जोड़ ३२१६२२४१ २/३ धनुष होता है। **ऊणपमाणं दंडा कोडितियं इक्कवीसलक्खाणं। वासट्ठिं च सहस्सा हुसमा इगिदाल दुतिमाया ॥ ७ ॥ त्रिलोकप्र. २ य अधि ॥**

अर्थ :- कम धनुषों का प्रमाण ३२१६२४१ २/३ है। अनु) इतने धनुष कम राजू प्रमाण त्रसनाली के त्रसजीव रहते हैं। सारांश यह है कि लोक की ऊँचाई १४ राजू है। इतनी ही ऊँचाई त्रसनाली की है। उसमें से सातवें नरक के नीचे एक राजू में निगोदिया जीव ही रहते हैं। अतः एक राजू कम होने पर १३ राजू रहते हैं। उनमें भी सातवीं पृथ्वी के मध्य में नारकी रहते हैं, नीचे के ३९९९ १/३ योजन प्रमाण पृथ्वी में कोई त्रस जीव नहीं रहता है। ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि विमानत ही त्रस जीव रहते हैं। सर्वार्थसिद्धि के ऊपर के क्षेत्र में कोई त्रस जीव नहीं रहता है। अतः सर्वार्थसिद्धि से ऊपर के क्षेत्र में कोई त्रस जीव नहीं रहताहै। अतः सर्वार्थसिद्धि से लेकर आठवीं पृथ्वी तक का अन्तराल १२योजन, आठवीं पृथ्वी की मोटाई ८ योजन और आठवीं पृथ्वी के ऊपर ७५७५ धनुष प्रमाण क्षेत्र त्रसजीवों से शून्य है। अतः नीचे और ऊपर के उक्त धनुषों कम १३ राजू प्रमाण त्रसनाली में त्रसजीव जानने चाहिए।

जीव दो प्रकार के होते हैं। बादर और सूक्ष्म । बादर नामकर्म के उदय से सूक्ष्म पर्याय में उत्पन्न जीवों को बादर कहते हैं। सूक्ष्म जीवों के भी छः भेद हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोद वनस्पतिकायिक और इतर निगोद वनस्पतिकायिक। ये सब जीव पर्याप्त

कभी होते हैं और अपर्याप्त कभी होते हैं। जो बादर होते हैं वे किसी आधार से रहते हैं किन्तु सूक्ष्म जीव बिना किसी आधार के समस्त लोक में रहते हैं। पृथ्वी कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवं भी बादर होते हैं और सूक्ष्मजीव भी होते हैं। पाँचवें वनस्पतिकाय के दो रूप होते हैं। **साधारण और प्रत्येक असाधारण** वनस्पति काय के भेद बतलाते हैं। **अनादि साधारण वनस्पतिकाय और आदि साधारण वनस्पतिकाय।** ये दोनों प्रकार के जीव बादर ही होते हैं। और सूक्ष्म भी होते हैं। बाकी के सब जीव बादर ही होते हैं। साधारण नाम कर्म के उदय से साधारण वनस्पतिकाय जीव होते हैं। जिन्हें निगोदिया जीव कहते हैं। उनके भी दो भेद हैं। अनादिकालीन और आदिकालीन ।अनादिकालीन साधारण वनस्पति काय को नित्य निगोद कहते हैं और आदिकालीन वनस्पतिकाय को चर्तुगति निगोद कहते हैं। ये नित्य निगोदिया और चतुर्गति निगोदिया जीव भी बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जिन जीवों के बादर नाम कर्म का उदय होता है। वे बादर कहलाते हैं और जिनके सूक्ष्म नाम वे सूक्ष्म कहलाते हैं। दोनों ही प्रकार के निगोदिया जीव भी बादर होते हैं और सूक्ष्म भी होते हैं। अब यह बतलाते हैं कि वे निगोदिया जीव साधारण क्यों कहे जाते हैं। जिन अनन्तानन्त जीवों को आहार श्वासोच्छवास शरीर और वायु साधारण होती है अजीवों को साधारणकायिक जीव कहते हैं। जिन अनन्तानन्द निगोदिया जीवों के साधारण नाम कर्म का उदय होता है। उनकी आहार श्वासोच्छवास शरीर और आयु साधारण यानी समान होती है। अर्थात् इन अनन्तानन्त जीवों का पिण्ड मिलकर एक जीव के जैसा हो जाता है। अतः जब से उनसे एक जीव आहार ग्रहण करता है तो उसी समय उसके साथ अनंतानन्त जीव श्वास लेते हैं जब उनमें से एक जीव मरकर इस शरीर, को अपना लेता है। सारांश यह कि एक के जीवन के साथ उन सब का जीवन होता है और एक की मृत्यु के साथ ही सबकी मृत्यु हो जाती है। इसी से उन जीवों को साधारण जीव कहते हैं। साधारण वनस्पतिकायिक जीव एकेन्द्रिय होता है और एकेन्द्रिय जीव के चार पर्याप्तियाँ होती हैं-आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति और श्वासोच्छवास पर्याप्ति कर्म उदय होता है

जब कोई जीव जन्म लेता है तो जन्म लेने के प्रथम समय में आहार वर्गणा के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। पुद्गल स्कंधों का खल भाग और रस भाग स्पर्शपरिणमन होना आहार पर्याप्ति का कार्य है। आहार वर्गणा के परमाणुओं का इन्द्रिय आकार रूप परिणमन होना शरीर पर्याय का कार्य है।

साधारण वनस्पति की तरह प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं- **सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक** । जिस प्रत्येक वनस्पति के शरीर में बादर निगोदिया जीवों का आवास हो उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। अब सूक्ष्म और बादर की पहचान बतलाते हैं।

अर्थ-जिन जीवों का पृथ्वी से, जल से, आग से और वायु से प्रतिघात नहीं होता उन्हें सूक्ष्मकायिक जीव जानों और जिनका इनसे प्रतिघात होता है उन्हें स्थूलकायिक जीव जानों।

जिनको त्रस नाम कर्म का उदय होता है उन्हें त्रस जीव कहते हैं। उनके भी दो भेद हैं- **एक विकलेन्द्रिय, दूसरा सकलेन्द्रिय**। दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं क्योंकि शंख आदि दो इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन और रसना दो ही इन्द्रियाँ होती हैं। चींटी खटमल वगैरह तीन इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन ही इन्द्रियाँ होती है। भौंरा, मक्खी, डांस, मच्छर, वगैरह चार इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु चार ही इन्द्रियाँ होती है। अतः ये जीव विकलेन्द्रिय कहे जाते हैं। मनुष्य देव, नारकी, पशु आदि पंचेन्द्रिय जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं क्योंकि उनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत ये पाँचों इन्द्रिय पाई जाती हैं।

पंचेन्द्रिय नाम कर्म के उदय से तिर्यंच जीव पंचेन्द्रिय होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के तीन भेद हैं। जलचर, थलचर और नभचर। अर्थात् कुछ पंचेन्द्रिय जीव जलचर होते हैं जैसे मछली, कछुआ आदि। कुछ थलचर होते हैं जैसे हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, व्याघ्र, भेडिया, सिंह, मृग, खरगोश आदि और कुछ पंचेन्द्रिय जीव नभचर होते हैं जैसे तोता, कौआ, बगुला, सारस, हंस, मयूर आदि। इन तीनों प्रकार के तिर्यंचों में से भी प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं- एक अनेकप्रकार के संकल्प-विकल्प युक्त मन सहित सैनी तिर्यंच

और एक अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प युक्त मन से रहित असैनी तिर्यंच । अर्थात् सैनी जलचर तिर्यंच, असैनी जलचर तिर्यंच, सैनी थलचर तिर्यंच, असैनी थलचर, सैनी नभचर तिर्यंच, असैनी नभचर तिर्यंच । इस तरह पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के छः भेद हुए।

पूर्वोक्त ६ प्रकार के तिर्यंच भी दो प्रकार के होते हैं। एक गर्भ-जन्मवाले और एक सम्मूर्छन जन्म वाले। जन्म लेने वाले जीव के द्वारा रज और वीर्यरूप पिण्ड को अपने शरीर रूप से परिणमाने का नाम गर्भ है। उस गर्भ से जो पैदा होते हैं उन्हें गर्भ-जन्म वाले कहते हैं। अर्थात् माता के गर्भ से पैदा होने वाले जीव गर्भजन्म वाले कहे जाते हैं। शरीर के आकार रूप परिणमन करने की योग्यता रखने वाले पुद्गल स्कन्धों का चारों ओर से एकत्र होकर जन्म लेने वाले जीव के शरीर रूप होने का नाम सम्मूर्छन है और सम्मूर्छन से जन्म लेने वाले जीव सम्मूर्छन जन्म वाले कहे जाते हैं किन्तु भोगभूमियाँ तिर्यंच गर्भ ही होते हैं, सम्मूर्छन जन्मवाले नहीं होते। भोगभूमि में गाय, भैंस हिरन वगैरह, थलचर तिर्यंच तथा हंस, मोर, तोता वगैरह नभचर तिर्यंच ही होते हैं। जलचर तिर्यंच नहीं होते। तथा ये सब पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी ही होते हैं। असंज्ञी नहीं होते।

मनुष्य के क्षेत्र के भेद से चार प्रकार हैं- आर्य खण्ड में उत्पन्न हुए मनुष्य, म्लेच्छखम्ड में उत्पन्न हुए मनुष्य, भोगभोमि में उत्पन्न हुए मनुष्य और कुभोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य। ये चारों ही प्रकार के मनुष्य पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। आर्यखण्ड, म्लेच्छ खण्ड, भोगभूमि और कुभोगभूमि ऐसे जो भिन्न-भिन्न प्रकार के कहे गये हैं उनकी कुछ विशेषताएँ हैं। भोगभूमि में, कुभोगभूमि में भी कुछ विशेषता है।

नरक गति नाम कर्म के उदय से नरक भव में जिनका जन्म होता है वे नारकी कहलाते हैं। नारकी जीवों का अशुभ वैक्रियक शरीर होता है. वे एक दूसरे से लड़ते ही रहते हैं, एक दूसरे के देह के तिल-तिल बराबर खण्ड कर देते हैं, फिर भी वे आयु क्षय से पहले मरते नहीं हैं, तिल-तिल बराबर खण्डित देहखण्ड भी पारे की तरह मिल जाते हैं। अतिघोर दुःखी वे नारकी निर्वृत्य पर्याप्त व पर्याप्त दो प्रकार के होते हैं। निर्वृत्यपर्याप्त जो जन्म समय

ही अन्तर्मुहूर्त्त रहते हैं। फिर सारे जीवन भर वे पर्याप्त रहते हैं। नारकी जीवों में लब्धपर्याप्तक नहीं होते हैं। इसीप्रकार देवगति के जीव, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, वैमानिक चारों प्रकार के देव निर्वृत्यपर्याप्त व पर्याप्त दो प्रकार के होते हैं। तिर्यंचों के ८५, मनुष्यों के ९ नारकी के २, देवों के २, कुल मिलाकर ९८ जीवसमास होते हैं। इन ९८ जीव समासों में सब संसारी जीव आ जाते हैं।

जितने भी जीव उन सबकी एक ही चाह है कि सुख शान्ति हो और प्रयत्न भी इसी के अर्थ करते हैं। अब तक सुख-शांति प्रयत्न प्राप्ति की दिशा में भी अत्यधिक किया पर सुख शान्ति नहीं मिली। आखिर क्या है? इस पर विचार करना चाहिए। देखिये। सुख शान्ति का कारण परिवार, धन, वैभव, इज्जत आदि का मिलना नहीं किन्तु सुख शान्ति का कारण है शुद्धज्ञान का मिलना। उसकी बुद्धि स्वच्छ हो, ज्ञान सही हो तो वह व्यक्ति सुखी हो पाता है। जितने भी सुख मिलते हैं तो वह भी ज्ञान से मिलते हैं और सुख मिलना है तो वह भी ज्ञान से ही मिलना है। मिथ्याज्ञान के आधार से ये सुख दुःख होते हैं। यह व्यवहारिक बात है परन्तु सदा के लिए दुःख मिटे और पूर्णरूपेण सुख शान्ति मिले, यह तो सच्चाज्ञान (सम्यग्ज्ञान) से ही प्राप्ति हो सकती है। अतः जगत के प्राणी सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करके सुख, शान्ति में लीन हों इसी पावन पवित्र भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ। ॐ नमः।

तन भी होता है वही और तन में प्राण वही होता है ।
जहाँ होती है तमन्ना और वहीं अरमान होता है ॥
किन्तु रहता नहीं जब धर्म और ईमान उनमे ।
तो वह एक इंसान होकर भी इंसान नहीं होता है ॥

11 बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा

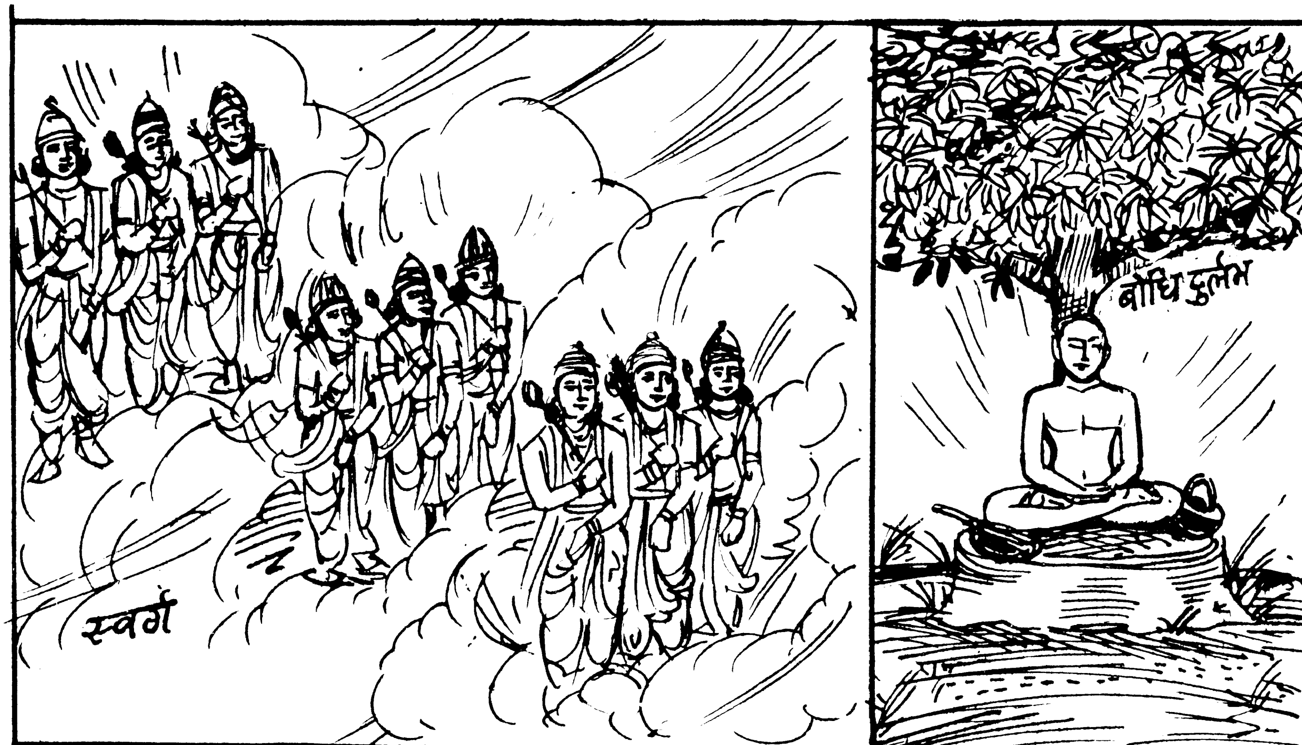

दुर्लभ है एक यथारथ ज्ञान

11 बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा

स्व को जानना, पहचानना एवं स्व में लीन हो जाना ही बोधि है। बोधि ही सम्यक्दर्शन ज्ञान, चारित्र रूप है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप यह बोधि ही इस संसार में महादुर्लभ है। और इस बोधि का पुनः पुनः विचार, चिन्तवन करना ही बोधि दुर्लभ भावना है।

बोधि की दुर्लभता गहराई से अनुभव हो इसके लिए निगोध से उत्तरोत्तर दुर्लभता का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

कविवर मंगतराय जी कृत बारह भावना में इसी विष को मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया है।

''दुर्लभ है निगोद से थावर अरुत्रस गति पानी।
नरकाया को सुरपति तरसे सो दुर्लभ प्राणी॥''

उत्तम देह सुसंगति दुर्लभ श्रावक कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ संयम पंचम गुणठाना॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधना दीक्षा का धरना।
दुर्लभ मुनिवर को व्रत पालन शुद्धभाव।
दुर्लभ तैं दुर्लभ है चेतन बोधिज्ञान पावै॥
पाकर केवलज्ञान नहीं फिर इस भव में आवै॥

एक निगोदिया जीव के शरीर में सिद्ध जीवों से अनंत गुणाजीव हैं। निगोदिया जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। निगोदिया जीव दो प्रकार के होते हैं। (१) नित्यनिगोद जीव, (२) इतर निगोद (चुतर्गति निगोद) जीव। जो जीव अनादिकाल से निगोद में पड़े हुए हैं। और कभी त्रस पर्याय धारण नहीं की आगे भाकर्म में कुछ शिथिलता से निगोद निकल जाता है उसे नित्यनिगोदिया जीव कहते हैं और जो त्रस पर्याय प्राप्त करके निगोद में जाते हैं उन्हें चतुर्गति निगोदिया जीव कहते हैं नित्य निगोद में तो जीव अनादिकाल से निवास कर रहा है। अतः जीव का अनन्त काल निगोद में व्यतीत होता है। वहाँ से निकलकर वह पृथ्वीकादि पंच स्थावरों में जन्म लेता है वहाँ भी अज्ञानी का अज्ञानी बना रहता है। जिसप्रकार बालू के समुद्र में गिरी हुई वज्रसिकता की कणिका मिलना दुर्लभ है, उसी प्रकार स्थावर जीवों से भरे हुए इस भवसागर में त्रस पर्याय को प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। असंख्यातकाल तक बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में भटकता है, फिर कहीं बड़ी कठिनाई से त्रस पर्याय मिलती है।

गुणों के समूह में कृतज्ञता का मिलना अतिदुर्लभ है, उसी प्रकार त्रस पर्याय पाकर भी पंचेन्द्रिय होना महादुर्लभ है। स्थावर पर्याय से निकलकर विकलेन्द्रियों (द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, एवं चतुरिन्द्रियों) में जन्म लेता है। वहा भी अनेक पूर्व-कोटि काल तक रहता है। वहाँ से च्युत होकर जिस किसी तरह पंचेन्द्रिय होता है। पंचेन्द्रिय होने के बावजूद भी असंज्ञी (मन रहित जीव) होने के कारण बातचीत उपदेश वगैरह नहीं समझ सकता है। अतः न तो स्वयं को पहचानता है कि मैं कौन हूँ और न ही धर्म को ही जानता है। कदाचित् जिस किसी तरह संज्ञी (मन सहित जीव) पंचेन्द्रिय भी होता है तो बिलाव, चूहा, भेड़िया, गिद्ध, सर्प, नेवला, व्याघ्र, सिंहादि क्रूर परिणामी तिर्यंच होता है। तिर्यंच पर्याय भी उसके लिए अशुभ होता है। जहाँ से पापरूप परिणाम के कारण मरकर भयानक दुःखदायी नरक में चला जाता

है। वहाँ भूख, प्यास, शीत, उष्ण के कष्ट के साथ ही साथ छेदना, भेदना, चीरना, आदि कष्ट भोगता है। वहाँ पर एक नारकी दूसरे नारकी को कष्ट नहीं देता है। कोल्हू में पेलना, भाड़ में भूँजना, पकाना, शूलों पर फेंक देना, तलवार की धार समान नुकीले पत्तेवाले वृक्षों पर डाल देना, सुई की नोक के समान घासवाली जमीन पर डालकर पीसना, वैतरणी नदी में डालना तथा अपनी विक्रिया से निर्मित अस्त्र-शस्त्रों से परस्पर में मारणादि के द्वारा बड़ा भारी कष्ट पाते हैं। जीव नरक से निकल कर तिर्यंच गति प्राप्त करता है। तिर्यंच पर्याय में भी अति, भूख, प्यास, शीत, उष्ण, छेदन, भेदन, मारण, ताड़नादिक दुःख को पाता है। जिस प्रकार चौराहे पर पड़ी हुई रत्नराशि को प्राप्त करना कठिन है उसी प्रकार मनुष्य भव प्राप्त करना कठिन है। मनुष्य भव पाकर भी यह जीव मिथ्यादृष्टि हुआ और म्लेच्छ खण्डों में जन्म लिया तो पाप ही उपार्जन करता है। यदि कचाचित् आर्यखण्ड में जन्म लेता है तो उत्तम कुल पाना दुर्लभ है। यदि उत्तम कुल भी मिल जाय तो धनहीन दरिद्री होता है। कदाचित् धनाढ्य भी हुआ तो हाथ पैर से ठीक होना, अर्थात् अपंग, अन्धा, वगैरह न होना कठिन है। यदि शरीर भी अविकल हुआ और आँख, नाक, कान आदि भी ठीक हुए तो निरोग शरीर मिलना दुर्लभ है क्योंकि मनुष्य शरीर ज्वर, भगंदर, कुष्ट, जलोदर, सन्निपात आदि व्याधियों का घर है। कदाचित् निरोग भी हुआ तो लम्बी आयु नहीं पाता है अर्थात् जल्दी मर जाता है। दीर्घायु आदि सभी प्राप्त हो गया है हमें। सभी साधन अनुकूल हैं। क्षेत्र ऐसा पाया जाता है कि जिसमें समवशरण जैसे मन्दिर, जिनेन्द्र भगवान की वाणी से पूरित शास्त्र भण्डार, स्वाध्याय कराने के लिए बुद्धिमान अनेकान्तवादी पंडित, धर्मोपदेश सुनाने के लिए दिगम्बर मुनि, आर्यिकाएँ आदि तथा साधर्मी जनों का समागम, यह सब सुविधा मिलने पर भी हम स्वरूप को नहीं जानें, अशुभ से बचने के लिए सम्यग्दर्शन पूर्वक अपने कर्मों का पालन न करें, अष्ट मूल गुणों को न अपनायें, सप्त व्यसनों का त्याग न करें, पाप कर्मों से मुक्त न हों, द्वादश व्रतों को आचरण में न लावें, सप्त तत्त्व का श्रद्धान न करें, पच्चीस दोषों को न त्यागें, देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान न करें, जिनेन्द्र भगवान के दर्शन न करें। बाईस अभक्ष्यों का त्याग न करें, इक्कीस गुणों को न अपनायें, तिरेपन क्रियाओं को आचरण में न लाये, चार कषायों का त्याग न करें, छः लेश्याओं को न जानें, सम्यग्दर्शन प्राप्त न करें, द्वादश अनुप्रेक्षाओं का

चिन्तन न करें, पंच परमेष्ठियों का ध्यान न करें, चारों आराधनाओं का मनन न करें, और शुभ तथा अशुभ राग का त्याग-स्वभाव में लाकर अगर कर्ममल को न हटाया, तो यह नर जन्म पाना निरर्थक हो जायेगा। इसके बाद ठीक उसी तरह पछताना होगा जिस तरह अज्ञान वश चिन्तामणि रत्न को फेंककर मालूम पड़ने पर कोई पुरुष पश्चात्ताप करता है।

एक मनुष्य वन में लकड़ी लाने के लिए प्रवेश करता है। लकड़ी एकत्र कर थकावट दूर करने हेतु वह एक वृक्ष की शीतल छाया में जा बैठा। वहाँ उसे एक चिन्तामणि रत्न हाथ आया। उसने विचार किया कि यह पत्थर बहुत सुन्दर है, इसे घर ले चलेंगे। वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस लकड़हारे के मन में आया कि आज तो यहीं कोई ठण्डा जल पिला दे। बस देर ही क्या थी, विचार आते ही निर्मल जल आ गया। उसे पीकर बड़ी प्रसन्नता हुई और विचारने लगा कि आज तो कई प्रकार के सुन्दर भोजन भी मुझे यहीं प्राप्त हो जाएँ। विचार करते ही कई देवांगनाएँ, अनेक प्रकार के मिष्ठान व नमकीन आदि खाद्य पदार्थों के द्वारा सजाये गये थाल लेकर उसके समीप आ कहने लगीं कि भोजन कीजिए। ऐसा सुनते ही आनंदित हो उठा उसका मन और वह आहार करने लगा, देवांगनाएँ हवा करती जाती हैं। इसी समय वहाँ एक काग आता है और अपनी कटुवाणी में बोलना शुरु कर देता है। भोजन करते हुए उस पुरुष ने उस काग को उड़ाने के लिए उसने छोटे से पत्थर को फेंक दिया। काग ने समझा कुछ खाद्य पदार्थ होगा, ऐसा जानकर उसे ले उड़ा।

उसी समय देवांगनाएँ आदि सभी माया लोप हो गई और वह मूर्ख अकेला ही वहाँ बैठा रह गया। मालूम होने पर कि यह पत्थर की करामात थी तो उसे अपनी मूर्खता पर पछताना पड़ा।

हम भी इस चिन्तामणि रत्न के समान मानव-शरीर को विषय-भोगों में नष्ट कर देंगे, गवाँ देंगे, सुखा देंगे, तो हमें दुर्गति में जाकर पछताना होगा इस नर जन्म के लिए। जिस प्रकार समुद्र से अत्यन्त कठिनता से प्राप्त किया मोती हाथ से छूट जाने के बाद फिर से हाथ आना दुर्लभ है ठीक उसी प्रकार यह नर तन छूटने के बाद इसका पाना भी अत्यन्त दुर्लभ है। इस अनमोल दुर्लभ नर तन को अगर हम सार्थक करना चाहते हैं तो हमें अपने कर्तव्यों का पालन करना होगा। सर्वप्रथम हमारा कर्तव्य यह है कि हम जो कोरी बातों के ही पुल बाँधते रहते हैं, यह करूँगा, ऐसा कर दूँगा,

साधू बनूँगा, कर्मों को तप से भस्म कर दूँगा। इन सब कोरी बातों को छोड़कर क्रियारूप से, आचरणरूप में लाएँ। कहने की अपेक्षा यदि थोड़ा सा भी कार्यरूप में ले लिया तो वह महान होगा। यह पाश्चात्य विद्वान ने भी कहा है: An, acre of performance is worth of a whole world of promise.

कार्यों का एक एकड़ वचनों के एक पूरे संसार के समान है अर्थात् बहुत कुछ कहने के बजाय थोड़ा सा करना अच्छा है, महानता है, क्योंकि मात्र वनच बोलने से तो हमें सुख की प्राप्ति नहीं होती। आत्म शांति के लिए सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को क्रिया रूप में लाना होगा।

यह मनुष्य जन्म हम को प्राप्त हुआ है और अनुकूल सुविधाएँ मिली हैं। यह सब तो हमारे पूर्व जन्म के किए हुए पुण्य का ही फल है। अगर हमने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया तो हमारी गणना मनुष्यों में न होकर पशुओं में की जायेगी। जैसा कि महाराज भृर्तहरि ने नीतिशतक में **कहा है: "येषां न विद्या न तपो न दानं,**

ज्ञान न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति॥"

जिन मनुष्यों में विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, सदाचार गुण तथा धर्म नहीं है वे पृथ्वी के भारस्वरूप पशु ही हैं, जो मनुष्य के रूप में विचरण करते हैं।

इसलिए हमें चाहिए कि इसी क्षण अपने को पर से निज की ओर मोड लें। जब हम पर-वस्तु को पर मान लेंगे और उससे अपने मन को मोड़ लेंगे तो हमारा जो निजी स्वभाव रत्नत्रय है वह अपने आप प्रकट हो जाएगा। ज्यों-ज्यों हम अपने मन को आत्मा की ओर ढालेंगे त्यों-त्यों संसार-शरीर-को भोगों से अरुचि होती जायेगी।

इसलिए तीर्थंकरों ने जो गृहस्थ धर्म की क्रिया व आचरण बताया है, उसे अपने जीवन में उतारें। जब तक हम श्रावक धर्म का आचरण नहीं करेंगे, तब तक सच्चे जैनी नहीं बन सकते हैं। जिनेन्द्र भगवान के उपदेशों को पालने वाला ही सच्चा जैनी हो सकता है, मन, वचन, काय से उसका आचरण मनुष्य ही कर सकता है, इसलिए सब भवों में मनुष्य भव ही श्रेष्ठ है।

आचार्य अमितगति के अनुसार "**भवेषु मनुष्यभवः प्रधान**" संसार में चुतरशीतिलक्ष योनियाँ हैं, उनमें एक मनुष्य जन्म ही प्रधान है, सर्वोपरि है।

मनुष्य योनि से बढ़कर अन्य कोई दूसरी योनि (पर्याय) हो ही नहीं सकती। क्योंकि मनुष्य को बुद्धि का अपार भण्डार, ज्ञान का अक्षय विकास, विवेक की अपूर्व निधि और बल-वैभव, सम्पन्नता का अपार समूहादि मनुष्य शरीर में प्राप्त हो पाता है। इस परिवर्तनशील संसार में मनुष्य से बढ़कर अन्य दूसरा कोई नहीं- चाहे भौतिक उपादानों को देखा जाये अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर। अन्य प्राणी जन्म से अन्त तक उसी अवस्था में रहते हैं जो पूर्व से चली आई है। उनके यथाजात शरीर, तिनकों के कुलाय, मिट्टी के वाल्मीक, गिरि गुहाओं के आश्रय आज उसी रूप में हैं। किन्तु कल्पवृक्षों के द्वारा प्राप्त अपूर्व सुखों को भोगने वाला मनुष्य आज अणु सभ्यता के युग में श्वास ले रहा है। वह पवनवेग से आकाश में उड़ता है। पानी में शार्क की तरह डुबकी लगाता है और पृथ्वी पर कला कौशल, ज्ञान-विज्ञान की अन्तर-बाह्य विभूतियों से सम्पन्न वातावरण में सब सुख सुविधाओं के साथ जीवन यापन करता है। दिन-प्रतिदिन उन्नति की ओर अग्रसर होता हुआ यह मानव अपने सम्पूर्ण विकसित चैतन्य से सभी प्राणियों से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध कर रहा है। इसी ने शरीर से भिन्न आत्मा को पहचाना है और स्व-पर विवेक से नर से नारायण पद को प्राप्त किया है, कर रहा है, और भविष्य में भी अपने पुरुषार्थ तथा कर्म के बल पर करता रहेगा।

केवल मनुष्य-जन्म प्राप्त करने और केवल भौतिक समृद्धि से मनुष्य-पर्याय को सार्थक नहीं कहा जा सकता। उसे सार्थक और कृतार्थ करने के लिए अपना कर्तव्य पालन करने की आवश्यकता है। जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि- में तप कर पवित्रता को प्राप्त होता है, मेहंदी के पत्ते पीसे जाने पर रंग लाते हैं। चन्दन घिसने पर सुगन्ध देता है, धान्य कूटने पर ही उपभोग्य होता है उसी प्रकार यह मनुष्य जन्म भी ज्ञानाग्नि में तपकर अपने स्वभाव को प्राप्त होता है। हम अपने आवश्यक कर्तव्यों का पालन करें, तब ही हे नर, जन्म प्राप्त करने की सार्थकता है। नीतिकारों ने कहा है ''आहार निद्रा भय-मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।'' पशुओं में और मनुष्यों में खाना, पीना, सोना, उठना, रतिविलास यह सब समान ही है। अन्तर पाया जाता है तो केवल यही कि मनुष्य अपने ज्ञान के द्वारा सही खोज सच्चे सुख की ओर चल देता है और पशु-पक्षी अक्सर हित-अहित के ज्ञान से रहित होते हैं, विवेक शून्य होते हैं। यदि मनुष्य इन सामान्य गुणों से आगे विशिष्टता प्राप्त नहीं करता है, तो उसे वास्तविक अर्थ में मनुष्य नहीं कहा

जा सकता। मनुष्य तो मनुष्यत्व से ही कहा जा सकता है। मनुष्य जन्म की विशेषता बताते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उल्लेख है कि-

मणुवगईए वि तओ मणुवगईए महव्वदं सयंल।
मणुवगईए आणं मधुवगईए वि णिव्वाणं॥

मनुष्यगति में ही तप है, मनुष्य गति में ही समस्त महाव्रत होते हैं, मनुष्यगति में ही ध्यान होता है और मोक्ष की प्राप्ति भी मनुष्य गति में ही होती है। "न मानुवात् श्रेष्ठतरं हिं कश्चित" मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नहीं है। इस मनुष्य योनि में ही आत्मा का विवेक होता है, और स्व-पर का ज्ञान मिलता है तथा इसी गति में षट् आवश्यकताओं का पालन होता है, इसी में श्रावक व मुनि धर्म का पालन होता है।

अपनी भूल-यह सर्वांगपूर्ण, मनोहर, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न नरजन्म बाह्य एवं अन्तर चिन्तन धाराओं के भेद से दो भागों में विभक्त है। एक भाग इसका भौतिक है और दूसरा आध्यात्मिक, भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति की अधिकता से तथा आत्मिक जगत् के इन्द्रिय सन्निकर्ष वतृ अर्थात् सूक्ष्म होने से कभी-कभी इस दृश्यमान स्थूल जगत को साध्य मानकर मनुष्य इसी में डूब जाता है और

बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुणी रत रह्यो।
अर्द्धमृतक सम बुढ़ापनो, कैसे रूप लखे आपनो॥

प. दौलतरामजी के इस सुभाषित के अनुसार मनुष्य रति क्रीड़ा, भोग और रोग में फँसकर आत्म-ज्ञान शून्य दशा में ही प्राण परित्याग कर परलोगगमन कर जाता है और वह रत्नत्रय, जिसे जानना ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है उससे अज्ञात रह जाता है। मनुष्य जब अपने स्वभाव को भूल विषयों के पीछे इस श्रेष्ठ भव को लगाता है वास्तव में जिस शरीर को हम सर्वस्व मानकर भौतिक उपादानों का अम्बार लगाकर उसकी सुन्दरता, कोमलता और चारुता को अक्षुण्ण सुरक्षित रखना चाहते हैं, वही शरीर जर्जर हो बुढ़ापा आने तक शिथिल हो जाता है। इसमें विकार आ जाते हैं जिससे आँख, नाक, कान, मुँह, दाँत और सभी इन्द्रियाँ निर्बल और निष्क्रिय हो जाती हैं। मन की आज्ञा को तन अस्वीकार कर देता है। अपने ही घर में तन और मन में द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। मन को वे युवावस्था के दिन स्मरण हो उठते हैं, जब वह इशारा करता और दौड़ पड़ता था। आज मन अंकुश

मारता है और तन मुर्दा के समान निष्क्रिय होकर उसकी बात नहीं सुनता। यह मन तृष्णा का मित्र है, वासना का सहचर है, कुपथ का सखा है और मिथ्यात्व का किंकर है। मृग तृष्णा में भटकता है, रूप की छलना में भरमाता है, माया के महलों में अटकाता है। नीतिकार कहते हैं-

जीर्यंति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीर्यतीन्द्रिय-संधातस्तृष्णै का तरुणायतेः॥

अर्थात् जब शरीर वृद्ध हो जाता है तो सिर के केश सफेद, हो जाते हैं, दाँत गिर जाते हैं जिससे मुँह पोपला होकर विद्रूप हो जाता है, कुछ खा-पी नहीं सकता, क्योंकि सारी इन्द्रियाँ जीर्ण हो जाती हैं- किन्तु तृष्णा का क्षय नहीं होता। दिनोंदिन बढ़ती जाती है। मानव बिल्कुल नहीं विचारता कि एक दिन मरना भी है। कहा भी है-

करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामि चिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामि विस्मृतम ॥

किसी नीतिकार ने कहा है कि 'करूँगा-करूँगा' इस प्रकार ऊहापोह करते-करते दीर्घ सूत्री मनुष्य भूल जाता है कि कभी मरना भी पड़ेगा। अतः निकला हुआ श्वास फिर लौटे या नहीं लौटे, यह मानकर अपने को निश्चय बुद्धि से कार्य संलग्न करने वाला ही जीवन संग्राम में विजयी होता है।

अतः दृढ़ निश्चय बुद्धि को धारण करके मानव को मनुष्य भव सार्थक करने के लिए महा दुर्लभ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूप जो रत्न है उसे प्राप्त करना चाहिए। इसी से मनुष्य भव का सुधार हो सकता है। तीन रत्नों में जो प्रथम रत्न सम्यग्दर्शन है उसकी दुर्लभता एवं महानता के विषय में आचार्य लिखते हैं :

निधानं दुर्गतेर्द्वारं निधानं सर्वसंयदाम्।
विधानं मौक्षसौख्यानां पुण्यैः सम्यक्त्वमाप्यते ॥१५॥

जो दुर्गति के द्वारों को बन्द करने वाला है, समस्त संपदाओं का भण्डार है और मोक्ष सम्बन्धी सुखों को करने वाला है, ऐसा सम्यग्दर्शन किसी महान् पुण्य के उदय से प्राप्त होता है। धर्म संग्रह श्रावकाचार में भी इसी प्रकार कहा गया है-

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम्।
ज्ञान चारित्रयोर्बीजं मूल धर्मतरो रिव ॥

इस महाविकट संसार के अन्दर सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना महादुर्लभ है, यही मोक्ष का मुख्य साधन है और यही ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति के लिए बीज के सदृश्य धर्मरूपी वृक्ष को स्थिरता के लिए मूल-जड़ के समान है। सम्यक्त्व के बिना सब निष्फल है।

ध्यानं दुःखनिधानमेव तपसः संतापमात्रं फलं,
स्वाध्यायोऽपि हि बन्धय एव कीधियां ते निग्रहाः कुग्रहाः।
अश्लीलाः खलु दानशीलतुलना तीर्थादियात्रा वृथा,
सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यत्तत्सवमन्तर्गडु : ॥१८॥

अज्ञानी प्राणियों का ध्यान दुःख का भण्डार ही है, उनके तप का फल संताप मात्र है, स्वाध्याय भी निश्चय से निष्फल है, इन्द्रिय निग्रह भी दुराग्रह है, दान और शील की महिमा पूर्ण फलदायक नहीं है, तीर्थादि की यात्रा भी व्यर्थ है। परमार्थ से सम्यक्त्व के बिना अन्य सभी कार्य भीतर से निष्फल हैं। आत्मानुशासन में भी कहा है-

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्य महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥१५॥

इन्द्रियनिरोध, ज्ञान, आचरण और तप यदि सम्यक्त्वरहित हों तो ये पत्थर की तरह भारी हैं, यदि सम्यक्त्व हों तो महामणि की तरह पूजनीय हैं। आशय यह है कि ज्ञान, संयम और तप सम्यक्त्व के बिना निरर्थक हैं।

सम्यक्त्व से बढ़कर अन्य नहीं :

सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्न, सम्यक्त्वमित्रान्नं परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः, सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः ॥१७॥

जगत के अन्दर सम्यक्त्वरूपी रत्न से बढ़कर दूसरा रत्न नहीं है, सम्यक्त्वरूपी मित्र से बड़कर दूसरा मित्र नहीं है, सम्यक्त्वरूपी भाई से बढ़कर दूसरा भाई नहीं है, और अधिक क्या कहा जाय सम्यक्त्व से बढ़कर दूसरा लाभ नहीं है।

सम्यक्त्व की महिमा -

सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस प्रकार लिखा है-

सम्यग्दर्शनसंपन्नापि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

गणधरादि देव सम्यग्दर्शन सहित चाण्डाल को भी राख से ढके हुए अंगार के भीतर विद्यमान प्रकाश के समान देव कहते हैं। जैसे ऊपर की राख से अंगार राख सरीखा मालूम होता है परन्तु उसके भीतर अग्नि जरूर छिपी रहती है। ठीक इसी प्रकार यद्यपि सम्यक्त्वी चाण्डाल ऊपर से तो चाण्डाल-सा ही दिखता है, फिर भी उसके अंतरंग में सम्यग्दर्शन की जागती हुई ज्योति छिपी रहती है, इस कारण उसे देव के समान माना गया है। और कहा है-

दर्शनज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शन कर्णधारं तन्मोक्षमार्ग प्रचेक्षते ॥३१॥

ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा (सर्वप्रथम) सम्यग्दर्शन की मुख्यतया उपासना की जाती है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान कहा जाता है। और भी देखिये।

विद्यावृतस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

सम्यग्दर्शन के न होने पर बीज के बिना वृक्ष के समान ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति वृद्धि तथा फल का लगना नहीं बनता अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र नहीं होता।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यग्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरि द्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं, वे व्रतहित होने पर भी नरक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपने तथा नीचकुल, विकलांग, अल्पआयु और दरिद्रपने को प्राप्त नहीं होते। और भी-

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः॥३९॥

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भली प्रकार निश्चय कर लिए हैंजीवादिक पदार्थ जिन्होंने ऐसे तथा इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्रों और गणधरों के धारक तीर्थंकर होते हैं, जो तीनों लोक के जीवों के शरणभूत होते हैं।

शिवमजरमरुजमक्षयमब्यावाधं विशोकभयशंकम्।
कष्ठागतसुखविद्याविधवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥४०॥

सम्यग्दर्शन ही हैं जिनकी ऐसे भव्य जीव जरा-रहित, रोगरहित, क्षयरहित, बाधारहित, शोक, भय, शंका से रहित, परम प्रकर्षकता को प्राप्त हुआ है सुख और विद्या का विभव जिसमें ऐसे कर्ममल रहित मोक्षपद को प्राप्त होते हैं। सम्यक्त्वकौमुदी में भी कहा है-

तावद्भीमो भावम्भोधिस्तावज्जन्मपरम्परा।
तावद् दुःखनि यावन्न सतां सम्यक्त्वसंभवः ॥१९॥

जब तक मनुष्यों को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती तभी तक उनका संसार भयंकर रहता है, तभी तक उनकी जन्म सन्तति चलती रहतीहै और तभी तक उन्हें अनेक दुःखों का सामना करना पड़ता है। और भी-

भवेद्वैमानिकोऽवश्यं जन्तु सम्यक्त्ववासितः।
यदि नोद्भ्रान्तसम्यक्त्वो बद्धायुर्नापि वै पुरा ॥२१॥

यदि इस जीव ने सम्यक्त्व को छोड़ा नहीं है और न सम्यक्त्व से पहिले किसी आयु का बन्ध ही किया है तो सम्यक्त्व की वासना से युक्त वह जीव नियम से वैमानिक देव होता है। अन्तर्मुहूत का सम्यक्त्व भी लाभ प्रद होता है।

अन्तर्मुहूर्तमपि यः समुपास्य जन्तुः,
संम्यक्त्वरत्नममलं विजहाति सद्यः।
बम्भ्रम्यते भवपथे सुचिरं न सोऽपि,
तद्बिभ्रतश्चिरतरं किमुदोरयामः ॥२२॥

जो जीव अन्तर्मुहूर्त के लिए भी निर्मल सम्यक्त्वरूपी रत्न की उपासना कर उसे शीघ्र ही छोड़ देता है, वह भी संसार के मार्ग में चिरकाल तक नहीं भटकता, फिर जो उसे दीर्घकाल तक धारण करता है उसकी बात ही क्या अर्थात् वह तो नियम से एक-दो अधिक से अधिक चार भव के अन्दर मोक्ष जायेगा। और भी-

धर्मकल्पतरोर्मूलं द्वार मोक्षपुरस्य च।
संसाराब्धौ महापोतो गुणानां स्थानमुत्तमम् ॥२४॥

यह सम्यग्दर्शन धर्मरूपी कल्पवृक्ष की जड़ है, मोक्षरूपी नगर का द्वार है, संसार रूपी महासागर से निकलने के लिए बड़ा भारी जहाज है

और गुणों का उत्तम स्थान है।

निधानं सर्वलक्ष्मीणां हेतुस्तीर्थकृत्कर्मणः।
पालयन्ति जना धन्याः सम्यक्त्वमिति निश्चलम् ॥ २९ ॥

सम्यग्दर्शन सब लक्ष्मियों का भण्डार, तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का हेतु है। धन्य भाग्य है उनका जो मनुष्य निश्चलरूप से सम्यग्दर्शन का पालन करते हैं।

सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है, जिसका उल्लेख करते-करते एक महान् ग्रंथ बन जायेगा, परन्तु महिमा पूर्ण न होगी। कुन्दकुन्द स्वामी ने दर्शनपाहुड़ में यहाँ तक कहा है कि-

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्य णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव ही भ्रष्ट कहा जाता है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को निर्वाणपद प्राप्त नहीं होता है। चारित्ररहित को तो भी (चारित्रपूर्ण होकर) सिद्धि हो सकती है, पर दर्शनभ्रष्ट तो कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है अर्थात् सम्यक्त्वरूपी नौका के ऊपर आसीन हुए बिना संसार-सागर से पार नहीं हो सकते। अतः हमें इसी समय तत्त्व निर्णय कर यथार्थ श्रद्धापूर्वक परपदार्थों से भिन्न अपने आप में अपनी रुचि, प्रतीति, अनुभूति करनी है।

सम्यक्त्वी भोगों में लीन नहीं-

सम्यग्दृष्टि जीव संसार, शरीर और भोगों में आसक्त अर्थात् लीन नहीं होता। कहा भी है-

धात्रीबालासतीनाथ-पद्मिनीचलवारिवत्।
दग्धरज्जुवदाभाति भुञ्जानाऽपि न पापभाक् ॥

सम्यग्दृष्टि धाय में आसक्त न होने वाले बालक की तरह, असतीनाथ यानी व्यभिचारिणी स्त्री को आसक्तिपूर्वक नहीं सेवन करनेवाले पुरुष की तरह और कमलिनी के पत्तों पर पड़े चंचल जल की तरह सांसारिक विषयों को भोगता हुआ अर्थात् आवश्यक कर्मों को करता हुआ भी जली हुई रस्सी की तरह पाप का भागी नहीं होता- अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी कर्मों का बन्ध नहीं होता। बन्ध न होने का कारण है ज्ञान और वैराग्य ?

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान वैराग्य :

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वास्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३२॥

सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है, क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुपना यथार्थ स्वरूप का अभ्यास करने को अपने स्वरूप का ग्रहण और परके त्याग की विधिकर ''यह तो अपना स्वरूप है और यह पर द्रव्य का है-ऐसे दोनों का भेद परमार्थ से जानकर अपने स्वरूप में ठहरता है और परद्रव्य से सब तरह राग का योग छोड़ता है, सो यह रीति ज्ञान वैराग्य की शक्ति के बिना नहीं होती है।

सम्यग्दृष्टि का ही वैराग्य सच्चा है, चाहे वह घर में हो या वन में। सम्यग्दृष्टि निश्चय से परका कर्त्ता-भोक्ता नहीं बनता, परको भी अपना कर्त्ता नहीं मानता, आत्मा को कर्ममय और कर्मों को आत्मामय नहीं मानता, संसार शरीर रोगों के अन्दर आसक्त नहीं होता, अनिष्ट संयोग मिलने पर खेदखिन्न नहीं होता, धन-पुत्रादि के अन्दर भी तीव्र अनुराग नहीं करता। ज्यादा क्या कहा जाय, सम्यग्दृष्टि आवश्यक गृहकार्यों को करता हुआ भी कर्ता नहीं और भोगता हुआ भी भोक्ता नहीं है, सबके बीच रहता हुआ भी कीचड़ के अन्दर पड़े हुए स्वर्ण के समान निर्मल रहता है, संसार के अन्दर रहता हुआ भी जल के अन्दर कमल के समान पृथक् रहता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि तो संसार के अन्दर रहता है परन्तु उसके अन्दर संसार नहीं रहता । यही कारण है कि आचार्यों ने संसार में रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि को अपने में ही बताया है। अतः भव्य प्राणियो। सम्यक्त्व रूपी रत्न को सदैव अपने पास बनाये रखना है। यही मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। जैसा की बादल रूपी आवरण हटते ही सूर्य के प्रकाश एवं किरण युगपत निकलते हैं, वैसा ही सम्यग्दर्शन होते सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके हमें सम्यक्चारित्र की प्राप्ति करनी है। इसी से हमारा जीवन सार्थक होगा। इन तीनों रत्नों को प्राप्त करने से ही बोधि की प्राप्ति होगी।

अतः ऐसी इस बोधिदुर्लभ भावना का स्वरूप भली-भाँति जानकर सभी भव्य प्राणी दुर्लभबोधि को अपने प्रबल पुरुषार्थ से सहज सुलभ बनाकर बोधिक को प्राप्त करें इसी पवित्र भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ। ॐ नमः।

12 धर्मानुप्रेक्षा

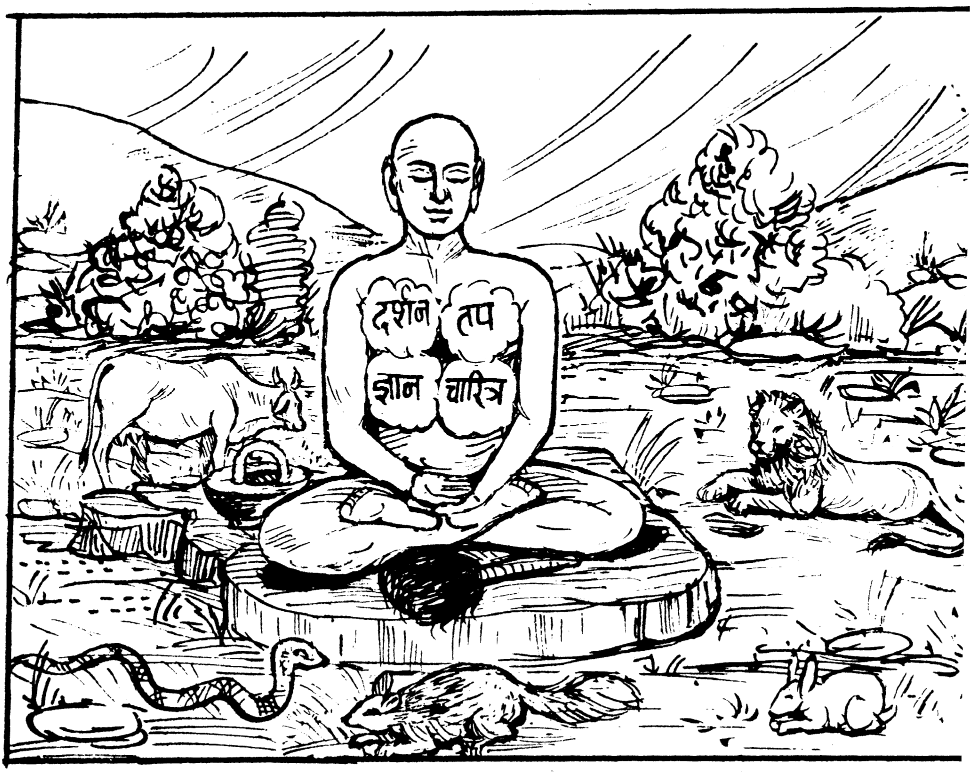

निर्वाण का मार्ग

12 धर्मानुप्रेक्षा

गत आलेखों में नौ अनुप्रेक्षाओं में ज्ञेयरूप सम्बन्ध, हेय एवं उपादेयरूप, आस्त्रवभाव एवं उपादेयरूप संवर-निर्जरा के चिन्तन के उपरान्त दसवें अनुप्रेक्षा में लोक की दुर्लभता का वर्णन किया गया था। इस भयानक संसार में रत्नत्रय बोधि ही वास्तविक धर्म है। अतः इस धर्मानुप्रेक्षा में स्व आत्मा के आस्त्रव से उत्पन्न होने वाले रत्नत्रयरूप धर्म का विचार करना बारबार चिन्तवन करना और तदनुसार आचरण करना ही धर्मानुप्रेक्षा है आचार्य कुन्दकुन्द देव ने मूलाचार में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया है।

संसार विसमदुग्गे भवगहणे कह वि मे भमंतेण।
दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मोति चिंतेज्जो ॥७५६॥

यह संसार विषय दुर्ग के समान है, अनेकों भवों से अर्थात् पुनः पुनः जन्म ग्रहण करने से गहन है, व्याकुल है ऐसा इस संसार में पर्यटन करते हुए बड़ी मुश्किल से मैंने जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट सर्वप्रधान इस धर्म को प्राप्त किया है। इस प्रकार से चिन्तन करना ही धर्मानुप्रेक्षा है। तार्किक चुड़ामणि में आचार्य समन्तभद्र ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है।

सद्दृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्म धमेश्वरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भव पद्धति ॥ ३ ॥ र.श्रा.।

जो प्राणियों को संसार के दुःखों से निकालकर स्वर्ग आदि के सुखों को प्राप्त कराता है वह धर्म कहलाता है और वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र रूप है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म है क्योंकि ये प्राणियों को संसार के दुःखों में ही फँसाते हैं।

अतः प्राणी को धर्म का सहारा लेना चाहिए, धर्म ही आदमी को उत्तम सुख में पहुँचा सकता है धर्म ही व्यक्ति को निर्वाण की प्राप्ति करा सकता है। धर्म के बिना मानव, मानव नहीं कहलाता है अपितु दानव कहलाता है। कहा भी है-

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।
धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यंच समान।

धर्म बिना मानव के पास यदि सम्पत्ति भी हो वह भी व्यर्थ है। एक बालक मेले में अपने पिता की अँगुली पकड़ कर घूम रहा था। मेले में लगी दुकान व अन्य सभी वस्तुओं को देखकर वह अत्यन्त आनन्दित हो रहा था। अचानक पिता की अँगुली छूट गई। बालक पूरे मेले में घबराया हुआ, रोता हुआ घूमता रहा। यद्यपि मेले में वे ही वस्तुएँ अब भी विद्यमान थीं जो पहले थीं, जिन्हें देखकर वह बालक पहले प्रसन्न हो रहा था, पर अब पिता की अँगुली छूटने मात्र से वह दुःखी हो रहा था, वे वस्तुएँ भी उसे प्रसन्न नहीं कर पा रही थीं, इस प्रकार यदि सब वैभवादि होते हुए भी धर्म का सहारा, धर्म का आश्रय, धर्म की पकड़ छूट गयी तो कोई सुखी नहीं रह सकता। उन वैभव की वस्तुओं में कोई सुख नजर नहीं आयेगा। जो वैभव पहले, धर्म का अवलम्बन रहने से सुख का कारण बना हुआ था, वही दुःख का कारण बन

जायेगा। धर्मरहित जीव प्रशंसनीय नहीं होता है कहा भी है-

राज्य निः सचिवं गत प्रहरणं सैन्यं विनेत्रं मुखं।
वर्षा निर्जलदा धनी च कृपणो भोज्यं तथाज्य विना।
दुःशीला दायिता सुहृन्न निकृतिमान् राजा प्रतापोज्झिता।
शिष्याः भक्ति विवर्जिता न हि विना मानवः।

जिस प्रकार मंत्री से रहित राज्य, शस्त्र से रहित सेना, नेत्र से रहित मुख, मेघ से रहित वर्षा, उदारता से रहित धनी, घी के बिना भोजन, शील भ्रष्ट स्त्री, मायावी मित्र, प्रतापहीन राजा और भक्ति के रहित शिष्य प्रशंसनीय नहीं होते, उसी प्रकार धर्म बिना मनुष्य प्रशंसनीय नहीं होता। और भी कहा है-

निर्दन्त करटी हयो गतजवश्चन्द्रं विना शर्वरी।
निर्गन्धं कुसुमं सरो गतजलं छायाविहीनस्तरूः।
रूपं निर्नयनं सुतो गत गुणाश्चरित्रहीनो यति।
निर्देवं भवनं न राजति तथा धर्मं बिना मानव :।

जिसप्रकार दांतरहित हाथी, वेगरहित घोड़ा, चन्द्ररहित रात्रि, गंध रहित पुष्प, जलरहित सरोवर छाया रहित वृक्ष, नेत्र रहित रूप, गुण रहित पुत्र, चारित्र रहित मुनि और देवप्रतिमा से रहित मन्दिर सुशोभित नहीं होता उसी प्रकार धर्म के बिना मनुष्य सुशोभित नहीं होता। अतः धर्म को जीवन में कभी नहीं छोड़ना चाहिए, भले ही कितने ही संकट क्यों ने आयें। तभी मानव संसार सागर से पार हो सकता है जब वह धर्म को मन में हमेशा धारण करे।

जब मर्यादा पुरुषोत्तम राम की आज्ञा से कृतान्तवक्र सेनापति महासती सीता को वन में छोड़ने गया, उस समय उसे सीता पर बहुत करूणा-दया आयी कि इस सीता का भाग्य भी कैसा? विवाह के कुछ समय पश्चात् ही चौदह वर्ष का वनवास भोगा। लंकाधिपति रावण चुरा ले गया। वहाँ भी अत्यन्त मानसिक कष्ट भोगा, राम युद्ध करके रावण के चंगुल से छुड़ाकर लाए तो अब फिर एक धोबी के कहने मात्र से पुनः वनवास भोगना पड़ रहा है। सीता को वन में छोड़ते समय अश्रुपूरित नयनों से सेनापति ने उससे

राम के प्रति कुछ संदेश देने के लिए कहा। सीता ने कहा कि - बस तुम उनसे यहीं कहना कि जैसे लोकापवाद के डर से मुझे त्याग दिया है, वैसे किसी के बहकाने से किसी के कहने से कि धर्म ढ़कोसला है, कभी धर्म को मत छोड़ देना। यह सीता के तत्त्वज्ञान का ही फल था कि उसने इतने कष्ट उठाने के बाद भी अपने पति राम पर या अन्य किसी पर उन कष्टों के लिए दोषारोपण नहीं किया तथा राम के लिए धर्म न छोड़ने का ही संदेश दिया। अतः इस दृष्टान्त से यही शिक्षा लेनी है कि महासती सीता ने धर्म को नहीं छोड़ा और राम को भी यही कहलवा रही है कि जीवन में धर्म को मत छोड़ना। अतः हम भी जीवन में कष्ट, संकट आने पर धर्म से विमुख न हो। धर्म से ही संकट कट जायेंगे। कष्ट तभी दूर होगा जब हमारा पुण्योदय होगा और पुण्य की प्राप्ति धर्म से होती है। अतः धर्म ही सर्वसंकटों से मुक्त, करके उत्तम सुख को देने वाला है धर्म की महिमा अपरम्पार है। धर्म सब पुरुषार्थों में प्रथम पुरुषार्थ है। सर्व सुखों में उत्तम सुख को देनेवाला है। धर्म ही सब का कल्याण करने वाला है गणधर गौतम स्वामी ने कहा भी है-

धर्मः सर्व सुखाकरो हितकरो धर्म बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिव सुखं धर्माय तस्मै नमः।
धर्मान्नस्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया।
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म! मां पालय।

अर्थात्-धर्म सर्व प्रकार के सुख को देनेवाला है, हित करने वाला है धर्म से ही निर्वाण अथवा मोक्ष सुख प्राप्त होता है। हे सुख इच्छुक भव्य जीव धर्म को ही संचित कीजिये। धर्म को छोड़कर संसारी जीवों का कोई भी हित करने वाला नहीं है। धर्म का मूल दया अर्थात् करूणा या अहिंसा है।

मैं अपने चित्त को प्रतिदिन धर्म में लीन करता हूँ। हे जगत् उद्धारक सुख शांति प्रदायक! धर्मपालन करता रहूँ। आचार्यों ने धर्म की महिमा को अपनी अपनी कृति में इस प्रकार कहा है।

व्यसन शतगतानां क्लेश रोगातुराणां,
मरणभयहतानां दुःखशोकार्तितानाम्।
जगति बहुविधानां व्याकुलानां जनानां,
शरणमशरणानां नित्यमेको हि धर्म :।

जो सैकड़ों कष्टो को प्राप्त हैं, क्लेशदायक रोगों से दुःखी हैं, मरण के भय से पीड़ित हैं, दुःख एवं शोक से पीड़ित हैं, व्याकुल हैं तथा शरण रहित हैं, ऐसे अनेक प्रकार के मनुष्यों को जगत् में सदा एक धर्म ही शरण होता है।

तोयत्यग्नि स्त्रजत्यहिरपि व्याधोऽपि सारङ्गति,
व्यालोऽप्यश्वति पर्वतोऽप्युपलनि क्ष्वेडोऽपि पीयूषति।
विघ्नोऽप्युत्सवति, प्रियत्यरिरपि क्रीडातडागत्यपां-
नाथोऽपि स्वगृत्यटव्यापि, नृणां धर्म प्रभावाद् ध्रुवम्।

धर्म के प्रभाव से मनुष्यों के लिए अग्नि भी पानी के समान, साँप भी माला के समान, व्याध भी मृग के समान, हाथी भी अश्व के समान, पर्वत भी पत्थर के समान, विष भी अमृत के समान, विघ्न भी उत्सव के समान शत्रु भी मित्र के समान, समुद्र भी क्रीड़ा सरोवर के समान और जंगल भी घर के समान आचरण करने लगता है।

धर्मः श्रीवशमंत्र एष परमो धर्मश्च कल्पद्रुमो,
धर्मः कामगवीप्सितप्रद मणि धर्म परं दैवतम्।
धर्मः सौख्यपरम्परामृत-नदी सम्भूति सत्पर्वतो।
धर्मो, भ्रांतरूपास्यतां किमपरैः क्षुद्रैरसत्कल्पनैः॥

यह धर्म लक्ष्मी का वशीकरण मंत्र है, धर्म उत्कृष्ट कल्पवृक्ष है, धर्म कामधेनु है, धर्म चिन्तामणि रत्न है, धर्म श्रेष्ठ देवता है और धर्म सुख की परम्परा रूप नदी की उत्पत्ति के लिए उत्तम पर्वत है अतः हे भाई! धर्म की उपासना की जावे। अन्य क्षुद्र असत्कल्पनाओं से क्या प्रयोजन है।

धरान्तः स्थं तरोर्मूलोमुच्छ्रयेणानुमीयते।
तथापूर्व कृतो धर्मोऽप्यनुमीयेत सम्पदा॥

जिस प्रकार पृथ्वी के भीतर रहने वाली वृक्ष की जड़ उसकी ऊँचाई से अनुमित होती है- जानी जाती है उसी प्रकार पर्याय में किया धर्म सम्पत्ति के द्वारा अनुमित होता है।

रम्यं रूपमरोगता गुणगुणाः कान्ताः कुरङ्गीदृशः
सौभाग्यं जनमान्यता सुमतयः संपतय कीर्तयः।
वैदुष्यं रति रुतमेन गुरुणा योगः सहायः सुख,
धर्मादेव नृणां भवन्ति सततं धर्मे मतिर्दीयताम्॥

सुन्दररूप, गुणसमूह, मृगनयनी स्त्रियाँ, सौभाग्य, लोकप्रतिष्ठा, सद्बुद्धि, संपत्ति, कीर्ति, पाण्डित्य, प्रीति, उत्तम, गुरु की प्राप्ति, सहायक और सुख धर्म से ही मनुष्यों को प्राप्त होते हैं अतः सदा धर्म में बुद्धि लगानी चाहिए।

चलं चित्तं चलं वित्तं चले जीवित यौवने।
चलं पारिजनं सौख्यं धर्म एको हि निश्चलः॥

चित्त चंचल है, धन चंचल है, जीवन और आयु चंचल है एवं परिजन संबंधी सुख चंचल है, एक धर्म ही निश्चय है।

इदं शरीरं परिणामदुर्बलं पतव्यवश्यं शतसन्धिजर्जरम्।
किमौषधं यच्छसि नाम दुर्मते। निरामयं धर्मरसायनं पिब ॥

यह शरीर परिणमन स्वभाव से दुर्बल है, सैकड़ों सन्धियों से युक्त है तथा जर्जर होकर अवश्य ही नष्ट होता है। अरे दुर्बुद्धि । तू इसे औषध क्या देता है तब रोगों को नष्ट करने वाले धर्मरूपी रसायन का पान कर।

जिनधर्मस्य भव्यानां संसारोच्छेदकारिणः।
त्रैलोक्याधिकमूल्यस्य केन मूल्यं विधीयते।

भव्यजीवों के संसार का उच्छेद करने वाले तथा तीन लोक में सर्वाधिक मूल्य से युक्त जैनधर्म का मूल्य किससे किया जा सकता है? किसी से नहीं, वह अमूल्य है।

धर्मश्रुतेः पापमुपैति नाशं, धर्मश्रुतैः पुण्यमुपैति वृद्धिम्।
स्वर्गापवर्ग-प्रवरोरुसौख्यं, धर्मश्रुतेरेव न चान्यतोऽस्ति।

धर्म श्रवण से पाप नाश को प्राप्त होता है, धर्मश्रमण से पुण्य वृद्धि को प्राप्त होता है और धर्मश्रवण से ही स्वर्ग मोक्ष का उत्कृष्ट भारी सुख प्राप्त होता है। अन्य से नहीं।

यदि मोक्षफलं काले भविता धर्म शाखिनः।
सिक्तस्तथापि संसार-सौख्यच्छायां करोत्यसौ॥

यद्यपि धर्मवृक्ष का मोक्षफल समय आने पर आगे प्राप्त होगा तथापि सींचा गया यह धर्मवृक्ष सासांरिक सुख रूपी छाया को तो अभी भी करना

है। सर्वज्ञ के द्वारा कहा हुआ धर्म दो प्रकार का है-, एक तो असंगत (मुनि, अणगार) धर्म और दूसरा संगासक्त (गृहस्थी, श्रावक धर्म) धर्म।

घर, परिवार, परिग्रहादि सम्पूर्णरूप से त्यागकर २८ मूलगुणों का जो पालन किया जाता है उसे मुनि धर्म कहा जाता है। आगम में श्रावक धर्म के योग्य पुरुष कैसा होता है, सो बतलाते हैं।

सम्यग्दर्शन सम्पन्नः प्रत्यातसन्नामृतः प्रभु।
स स्याच्छ्रावक धर्मोर्हो धर्मः स त्रिविधा भवेत्।

जो सम्यग्दर्शन से युक्त होता है और जिसकी संसार स्थिति बहुत निकट है वही पुरुष श्रावक पक्ष, चर्या और साधन के भेदों से ग्रहण करने योग्य है। उस श्रावक धर्म के तीन भेद हैं।

पक्षश्रावक धर्म :-

मैत्र्यादि भावना वृद्धं त्रस प्राणिवधोज्झनम्।
हिंस्यामहं न धर्मादौ पक्षः स्यादिति तेषुच॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ इन चार प्रकार की भावनाओं से वृद्धि को प्राप्त और दो इन्द्रियादि जीवों के वध के छोड़ने को तथा धर्म के लिए भी कभी जीवों की हिंसा नहीं करने को पक्ष श्रावक धर्म कहते हैं।

साधन श्रावक धर्म :-

स्यादन्तेऽन्नेहकाया नामुज्झनाद्ध्यान शुद्धिता।
आत्मनः शोधनं ज्ञेयं साधनं धर्ममुत्तमम्॥

मरण समय में अन्न और शरीरादिकों में ममत्व को छोड़कर और ध्यान की शुद्धि से अपनी आत्मा को शुद्ध करने को साधन श्रावक धर्म कहा है।

चर्या श्रावक धर्म :-

दोषं संशोध्य संजातं पुन्नेऽन्यस्य निजान्वयम्।
व्यजतः सद्य चर्यास्यान्निष्ठावान्नाम भेदतः।

देशयमघ्नकोपादि क्षयोपशम भावतः
त्राद्धो दर्शनिकादिस्तु नैष्ठिकः स्यात्सुलेश्यकः।

पहले कृषि आदि के आरम्भ से जो जो हानि दोष उत्पन्न हुए हैं उन्हें ठीक-ठीक प्रायश्चितादि से शोधन करके अपने घर को छोड़ने वाले को चर्या या नैष्ठिकः श्रावक कहा है। अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ के क्षयोपशम होने से दर्शनादि ग्यारह प्रतिमा को धारण करता है।

नैष्ठिक श्रावक की ११ प्रतिमाएँ :-

क्रमशः रागभाव घटने और संयमभाव के बढ़ने को प्रतिमा कहते हैं जिसप्रकार धातु, पाषणादि की प्रतिमा अंत बाह्य एक सदृश निश्चल रहती है उसी प्रकार भीतर बाहर के सभी विकारों को छोड़ने और अपने व्रतादिकों में दढ़ रहने का नाम ही प्रतिमा है। श्रमण धर्म धारण करने के लिए श्रावक को निरतन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है। साथ ही अपनी प्रत्येक क्रिया के निरतिचार पालन में सहज प्रहरी की भाँति सावधान रहना पड़ता है तभी क्रमशः ग्यारह सीढ़ियाँ (प्रतिमायें) चढ़ने के बाद वह निर्ग्रन्थ पद धारण करता है। प्रतिमाओं का उद्देश्य मुनिपद की प्राप्ति है। सकल संयम धारण करने के लिए प्रतिमाएँ देशसंयम की बढ़ती हुई अवस्थाएँ हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तो अनुदय हो और प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम हो तभी क्रमशः इन प्रतिमाओं में वृद्धि होती है अर्थात् ज्यों-ज्यों परिमाणों की निर्भरता बढ़ती है श्रावक आगे-आगे बढ़ता जाता है और एक दिन श्रावक से श्रमण की संज्ञा प्राप्त कर लेता है।

श्रावक की उक्त ग्यारह श्रेणियाँ या प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं-

(१) दर्शन प्रतिमा (२) व्रत प्रतिमा (३) सामायिक (४) प्रोषध (५) सचित्तत्याग (६) रात्रिभुक्ति (७) ब्रह्मचर्य (८) आरम्भत्याग (९) परिग्रहत्याग (१०) अनुमतित्याग (११) उद्दिष्टकषाय प्रतिमा। इनमें से पहली से लेकर छठी प्रतिमा उत्कृष्ट श्रावक होता है। प्रतिमा धारण करने की पात्रता तभी आती है जब श्रावक अष्ट मूलगुणों का धारी हो, सप्त व्यसनों का त्याग हो, षडावश्यकों को पालता हो, पंच अणुव्रतों का धारी हो तथा मिथ्यात्व बुद्धि का परित्याग कर जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया हो-- यह सब प्रतिमा

धारण करने के लिए आधार भूमि है।

१. दर्शन प्रतिमा

दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होता है। धर्म की शरण ग्रहण करता है अर्थात् समीचीन मार्ग पर चलता है, श्रावकोचित क्रियाओं का निर्दोष रीति से पालन करता है। 'मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी' सम्यग्दर्शन का अष्ट अंगों सहित और पच्चीस मल दोषों से रहित पालन करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रावक दर्शनप्रतिमाधारी कहलाता है।

२. व्रतप्रतिमा -

अब दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक पंच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है तथा इनकी सुरक्षा हेतु बाड़ रूप में तीन (दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत) और मुनिपद धारण करने की शिक्षा देने वाले चार शिक्षा व्रतों (सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और भोगोपभोग परिमाण) को धारण करता है अब यह वृत प्रतिमाधारी श्रावक कहा जाता है। वह ५ अणुव्रतों और ३ गुणव्रतों का तो निरतिचार पालन करने के लिए उत्तरदायी है और चार शिक्षाव्रतों का यथाशक्ति अभ्यास करता है।

३. सामायिक प्रतिमा

व्रत प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत अभ्यास अवस्था में था किन्तु इस प्रतिमा में इन योगों को शुद्ध रखते हुए तीनों संध्याओं में सामा.यिक करना आवश्यक है। वह भी एक बार में कम से कम दो घड़ी (४८ मिनट) तक करना अनिवार्य है। यह जघन्य रूप है मध्यम घड़ी और उत्कृष्ट रूप सामायिक छह घड़ी पर्यन्त होती है। इस प्रतिमाधारी को सामायिक सम्बन्धी दोषों का निराकरण भी आवश्यक है। सामायिक का प्रयोजन राग-द्वेष की निवृत्ति और आत्म-स्वरूप की प्राप्ति है।

४. प्रोषध प्रतिमा -

इस प्रतिमा में प्रोषध के साथ उपवास करना आवश्यक माना गया है तथा समय की पाबन्दी और निरतिचारिता भी आवश्यक है। प्रत्येक माह के चारों पर्वों में (दो अष्टमी, दो चतुर्दशी) उपवास करना चाहिए।

सप्तमी और त्रयोदशी के दिन भोजन कर वहीं मुखशुद्धि एवं पाद प्रक्षालन के बाद उपवास सम्बन्धी नियम करके श्री जिन मन्दिरजी में जाकर भगवान को नमस्कार कर गुरु की साक्षीपूर्वक चारों प्रकार के आहार के त्याग रूप उपवास को ग्रहण करना चाहिए। शास्त्र-श्रवण, पठन-पाठन, अनुप्रेक्षा-चिन्तन आदि क्रियाओं मे दिन व्यतीत करना चाहिए। अपराह्निक वन्दना के बाद रात्रि के समय यथाशक्ति कायोत्सर्ग स्थित होकर, शुद्ध जमीन देकर रात्रि में अपने घर अथवा जिनालय में कुछ समय सो कर प्रातः वन्दन विधि से जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर देव-शास्त्र गुरु की द्रव्य अथवा भाव पूजन करके पूर्वोक्त रीति से सारा दिन एवं रात्रि तदनुसार व्यतीत कर पारणा के दिन नवमी या पूर्णमासी को पुनः पूर्व के समान पूजन करके अपने घर जाकर वहाँ अतिथि को आहारदान देकर भोजन करना चाहिए, यह प्रोषधोपवास की उत्तम विधि है।

सप्तमी और नवमी को दोनों वक्त भोजन अष्टमी को उपवास मध्यम प्रोषध है अथवा मध्यम प्रोषध में जल छोड़कर शेष तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना आवश्यक है। आवश्यक कार्य भी सावद्यरहित होकर कर सकता है, किन्तु शेष विधान पूर्व की भाँति ही होना चाहिए।

अष्टमी, चर्तुदशी आदि पर्व के दिन एक बार आचाम्ल निर्विकृति करना अथवा एकाशन जघन्य प्रोषध है।

प्रोषधोपवास के दिन देह का शृंगार करना तथा रागवर्धक अन्य सभी कार्य वर्जित हैं।

५. सचित्तत्याग प्रतिमा-

भोज्य पदार्थ दो प्रकार के होते हैं सचित्त और अचित्त। मुनि पद की ओर अग्रसर होने वाला श्रावक जीव रक्षा के लिए और रागभाव के त्याग के लिए सबसे पहले सचित्त पदार्थों को खाने का यावज्जीवन त्याग करता है। वह कच्चे फल, फूल, बीज, अंकुर, पत्ते, शाक, पानी आदि को छिन्न-भिन्न अथवा अग्नि आदि के सम्पर्क में उचित-प्रासुक किए बिना नहीं खाता। इस प्रकार वह सचित्तत्याग (पाँचवीं) प्रतिमाधारी कहलाने लगता है।

६. रात्रि भुक्तित्याग प्रतिमा -

पहली पाँचों प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करते हुए करुणाशील श्रावकरात्रि में चारों प्रकार (खाद्य, स्वाद, लेह्य, और पेय) के आहार ग्रहण का त्याग कर देता है। इसका अर्थ यह नहीं कि इससे पूर्व वह रात्रि में आहार ग्रहण करता था, वह तो पहले भी रात्रि में आहार नहीं लेता था, परन्तु तब उसके नवकोटि त्याग नहीं था अब उसके रात्रि भोजन का नो कोटियों से (मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना) त्याग हो जाता है।

कतिपय आचार्यो ने इस प्रतिमाधारी के लिए दिवा मैथुन त्याग की बात भी कही है। उपभोग पदार्थो में प्रधान स्त्री है अतःएव वह इस प्रतिमा में मन-वचन-काय से दिवा मैथुन का त्याग होता है यद्यपि वह इससे पूर्व भी दिन में स्त्री सेवन नहीं करता था परन्तु उससे हंसी-मजाक के रूप में मनोविनोद कर लेता था किन्तु इस प्रतिमा में आकर वह उसका भी परित्याग कर देता है।

इस प्रकार प्रतिमाधारी के लिए दिवा मैथुन त्याग रात्रिभुक्ति त्याग दोनों आवश्यक हैं।

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा :-

छठीं प्रतिमा में श्रावक दिवामैथुन का त्याग कर चुका था किन्तु अब स्त्री के शरीर को मल बीज वीभत्स मानकर वह मानवी, तिर्यंचनी एवं चित्राम आदि की समस्त स्त्रियों के सेवन का मन, वचन और काय तथा ब्रह्मचर्य की अनुमोदना से रात्रि में भी त्याग कर पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है। अब वह स्त्री सम्बन्धी सभी चर्चायें करना बन्द कर देता है। यह सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

८. आरम्भ त्याग -

परिग्रह संचय करने की प्रक्रिया को आरम्भ कहते हैं। पूर्व की प्रतिमाओं को निरतिचार पालन करने वाला श्रावक अब तक सचित्त भोजन एवं स्त्री का सर्वथा परित्याग कर चुका है फिर भी अभी वह भोगोपभोग की अन्य वस्तुएँ महल मकान, बाग-बगीचा सवारी आदि का उपभोग करता है।

इनके विरक्त होने के लिए वह सोचता है कि मेरे पास इतना धन उपार्जन की क्या आवश्यकता है, बस इस भावना की प्रभुलता के कारण वह हिंसा के कारण भूत असि, मसि, कृषि, वाणिज्य प्राप्ति धनोपार्जन सम्बन्धी सभी आरम्भों का परित्याग कर आरम्भ त्याग नामक अष्टम प्रतिमाधारी बन जाता है। इतना अवश्य है कि वह आरम्भादि कार्यों का प्रारम्भ स्वयं नहीं करता किन्तु भृत्यादि के द्वारा कार्यों को कराने का त्यागी नहीं होता। साथ ही वह स्वयं अभिषेक, दान-पूजन आदि का आरम्भ कर सकता है क्योंकि यह आरम्भ धन संचय एवं प्राणघात (हिंसा) का कारण नहीं है इतना ही नहीं अपितु अपने स्नान का जल भरना, अपने वस्त्र साफ करना,, अपने स्थान पर बुहारी लगाना, स्वयं के लिए भोजन बनाना, यदि पात्र आ जाये तो उसे आहार दान देना आदि कार्य भी कर सकता है। ऐसा श्रावक घर में अथवा घर का त्याग करके तीर्थस्थानों में या साधु संघ में भी रह सकता है।

९. परिग्रह त्याग प्रतिमा -

वैराग्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर श्रावक बाह्य परिग्रहों को भी कम करता जाता है। आठवीं प्रतिमा में उसने नवीन धनोपार्जन का त्याग किया था अब वह संचित धन-धान्यादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों से भी ममत्व हल कर उनका त्याग कर देता है। केवल अपने पद व संयम की रक्षार्थ वस्त्रादि अत्यन्त आवश्यक पदार्थों को रखता है किन्तु उनमें भी मूर्च्छा नहीं रखता उसे परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी कहते हैं। यह श्रावक घर छोड़कर मुनिसंघ में या किसी धर्मस्थान में रहता है, श्रावक द्वारा निमंत्रित किए जाने पर एक बार शुद्ध भोजन करता है।

१०. अनुमति त्याग प्रतिमा-

बाह्य परिग्रह का त्याग? मध्यम श्रावक अब व्यापारिक आरम्भ के विषय में, धन-धान्यादि परिग्रह के विषय में और इह लोकविवाहादि किसी भी लौकिक कार्य में मन, वचन और काय से अनुमति नहीं देता है। मुनिसंघ में अथवा किसी धर्मस्थान में रहकर स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओं को करता है। निमंत्रित किए जाने पर अपने घर पर या साधर्मीजनों के घर जाकर दिन में एक बार शुद्ध भोजन करता है। वस्त्र मात्र के अतिरिक्त और कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता, सर्वथा उदासीन रहता है।

इस प्रतिमाधारी को केवल अपने निमित्त बने हुए भोजन और वस्त्र के

अतिरिक्त समस्त भोगोपभोग सामग्री का परित्याग हो जाता है अर्थात् वह भोगोपभोगविरति की चरम सीमा पर पहुँच जाता है।

११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा -

जघन्य और मध्यम स्थितियों को पार कर लेने के बाद अब श्रावक उत्कृष्ट स्थिति पर पहुँचता है। उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक और ऐलक दो प्रकार के होते हैं।

जो घर छोड़कर गुरु के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करते हैं, भिक्षावृत्ति से आहार ग्रहण करते हैं, उद्दिष्ट भोजन, वस्त्र, उपाधि को ग्रहण नहीं करते। एक लंगोट और एक खण्ड वस्त्र (सिर ढके तो पैर न ढके और पैर नहीं ढकते तो सिर न ढके) धारण करते हैं। दाढ़ी व सिंर के बालों को कैंची उस्तरे आदि से कटवा लेते हैं अथवा केशलोंच भी कर लेते हैं। पींछी आदि से स्थान का सम्मार्जन करते हैं, निश्चय एक स्थान पर बैठकर हाथ में, थाली में अथवा हाथ में कटोरा रखकर मौनपूर्वक दिन में एक बार शुद्ध भोजन करते हैं, निरन्तर आगे बढ़ने (मुनिपद धारण करने) की भावना लाते हुए धर्म ध्यान में लीन रहते हैं, मुनिजनों की वैयावृत्य में तत्पर रहते हैं, उन्हें क्षुल्लक कहते हैं।

जो मात्र एक लंगोट रखते हैं, मयूर पिच्छिका से मार्जन करते हैं, नियम पूर्वक केशलोंच करते हैं। बैठकर अपने हाथ में भोजन करते हैं पैदल चलते हैं और उद्दिष्ट आहारदि को ग्रहण नही करते हैं। उन्हें ऐलक कहते हैं।

इस प्रकार साधक उत्तरोत्तर विकास की ग्यारह श्रेणियाँ पार करता है हुआ मुनिपद की ओर अग्रसर होता है और आत्म स्वरूप को प्राप्त करता है। साक्षात् मोक्ष प्राप्त करने में तो मुनिधर्म ही कारण है परन्तु उस धर्म को पालने में असमर्थ मानव को श्रावक धर्म अवश्य अपनाना चाहिए जिससे मुनि धर्म पालन की योग्यता हो सके। मुनिव्रत धारण करने से निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होगी जिससे चर्तुगति रूपी ''जीवन यात्रा '' को समाप्त करके शिवपुर की यात्रा का आनन्द प्राप्त होगा।

विश्व के प्रत्येक प्राणी इस दुःख स्वरूप चतुर्गति ''जीवन'' यात्रा को समाप्त करके शिवपुर (मोक्ष) की यात्रा का आनन्द प्राप्त करें। इसी पावन पवित्र भावना के साथ कलम को विराम देता हूँ।

ॐ नमः

१०८ युवाचार्य गुणधरनन्दीजी महाराज